दिव्य जीवन

श्री 108 बाबा श्री रामरतनदास जी महाराज

स्थान—करह

॥ श्री रामचन्द्रायनमः ॥

अनन्त श्री विभूषित

श्री श्री १०८

श्री रामरतनदास जी महाराज

(करह वाले बाबा)

का

दिव्य जीवन

:: लेखक ::

श्रीरामजी शास्त्री

:: प्रकाशक ::

साकेतवासी

अनन्त श्री बाबा रामदासजी महाराज

(छोटे बाबा करह)

❑

:: संस्करण ::

चतुर्थ (वर्ष २००८)

❑

:: पुस्तक प्राप्ति स्थान ::

श्री विजय राघव सरकार ट्रस्ट

करह, जिला-मुरैना (मध्यप्रदेश)

❑

फोन नं. ०७५३२ - २३९२०९

❑

:: न्यौछावर ::

इकत्तीस रुपये (३१/- रुपये)

विषय-सूची

सीताराम
श्री पूज्य बाबा रामरतनदास जी महाराज

भूमिका

आकाश में अपार ताप का भण्डार सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से प्रज्वलित होता है। तब कहीं शरीर में ९८ डिग्री तापमान प्रवेश करता है, जीवन उसी ताप पर निर्भर रहता है, उसी ताप से मनुष्य जीवित रहता है और जीवित रहने की वह अदम्य कामना, हमें अनंत संघर्षों से जूझने की अटूट बन्धनों को गले लगाने की तथा पग–पग चुभने वाले दुःख के काँटों को हँसते–हँसते सह लेने की प्रेरणा देती है। इस प्रकाश जीवन और जीवनी शक्ति दोनों सूर्य के यत्किञ्चित् तापमान में निहित हैं। इसी प्रकार मानव का जो आदर्श जीवन है, आध्यात्मिक जीवन है उसे सजीव रखने वाले, उसमें तापक्रम का प्रवेश करने वाले सूर्य सन्त होते हैं। वे प्रत्येक युग में, प्रत्येक जाति में हुए हैं। वे जिस संस्कृति के, जिस धर्म के वाहक होते हैं उसके दो भाग होते हैं। एक शाश्वत तत्वों का भाग और दूसरा अशाश्वत तत्वों का भाग। संसार में सब जगह ये दो बातें ही हमें दिखाई देती हैं। हमारा शरीर बदलता है पर अन्दर आत्मा वही है। समाज में व्यक्ति पैदा होते हैं, मरते हैं लेकिन समाज चिरन्तन है। नदी के प्रवाह में जल की बूँदें हमेशा बदलती रहती हैं, लेकिन प्रभाव स्थिर रहता है। सन्त अनन्त हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होंगे। उनकी भाषा, उनका वेष, उनके बाह्य चिन्ह सदा परिवर्तनशील रहेंगे परन्तु उनके उदार विचार विश्व बन्धुत्व की भावना तथा उनके अद्‌भुत गुणों में कोई परिवर्तन न होना विश्वकल्याण के लिए उन गुणों की सदा आवश्यकता रहेगी। यद्यपि सन्तों का उज्ज्वल जीवन, उनके लोक विलक्षण आचरण अत्यन्त उच्च होते हैं, सामान्य जन–जीवन के लिए उनका स्पर्श करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है फिर भी उनके उदय में विश्व का अभ्युदय निहित है। वे प्रकाश स्तम्भ होते हैं। उनके अनन्त गुणों की शीतल किरणें सन्तप्त लोक–हृदय में शीतलता का इतना संचार तो कर ही देती हैं जितने से मूर्छित मानवता जीवित रह सकती है।

जब वे अपने जीवन में प्रेम का सागर लहराने लगते हैं तब कहीं प्रेम का बिन्दु हमारे जीवन में आता है तथा जब वे एक मानवेतर भी पीड़ित प्राणी के प्रति मातृवत् अगाध वात्सल्य उड़ेल देते हैं तब कहीं मनुष्य अपने पड़ौसी पर थोड़ी–सी दया दिखाने के लिए उद्यत होता है। ऐसे परोपकार निरत संत सदा सर्वत्र जनवन्दनीय होते हैं। भारतीय लोक–हृदय पर तो सन्तों ने सदा से शासन किया है यहाँ का जन–मानस सन्तों के प्रति जितना आस्थावान् है–जितनी अलौकिक श्रद्धा से नम्र है उतना वह किसी राजा महाराजा के प्रति नहीं। उसका यह विश्वास तथा श्रद्धा निरी अन्ध परम्परा पर निर्भर नहीं अपितु वह सब प्रत्यक्ष सत्य तथा गम्भीर अनुभव पर निर्भर है।

हाँ एक बात अवश्य है : वह यह कि ऐसे सन्त विरले होते हैं। एक नीतिकार का कथन है :–

शैले–शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे–गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने–वने॥

''प्रत्येक पर्वत में मणियां नहीं होतीं, प्रत्येक हाथी के मस्तक में गजमुक्तां नहीं होते तथा प्रत्येक वन चन्दन के वृक्ष नहीं होते, इसी प्रकार साधु पुरुष सर्वत्र नहीं होते'' ऐसे ही सन्तों को लक्ष्य करके कबीर साहब ने कहा है–

लालों की नहि बोरियाँ हँसों की नहिं पाँत।
सिंहों के लहंड़े नहीं साधु न चलें जमात॥

''लालो की भरी बोरियाँ नहीं होतीं, हंसों की पाँते नहीं होती, सिंहों के झुण्ड नहीं होते तथा संतों की जमातें नहीं हुआ करतीं।''

वास्तव में सच्चे सन्त तो भगवान के चलते–फिरते, बोलते–चालते विशुद्ध आशीर्वाद होते हैं। उनका दर्शन, तीनों कालों के पुण्य का सूचक है।

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्

– शिशुपाल. स १ श्लो. २६

भगवान श्रीकृष्ण नारदजी की प्रशंसा करते हुए उनसे कहते हैं– ''आपका दर्शन, प्राणियों के लिए उनके तीनों कालों के मंगल का द्योतक है। जिस क्षण दर्शन होता है, उसी क्षण यह वर्तमान काल के पापों को हर लेता है अतः वर्तमान काल पुण्यवान् बना तथा वर्तमान का शुभ दर्शन, भविष्य में शुभ होने की सूचना देता है अतः भविष्य शुभ हुआ। पर वर्तमान काल में मिला दर्शन भी भूतकाल में किये गये पुण्याचरणों का पवित्र परिणाम है, अतः इससे भूतकाल का मंगलमय होना सिद्ध हुआ। इस प्रकार आप जैसे सन्तों का दर्शन भूत–भविष्य–वर्तमान तीनों की पुण्य परम्परा का परिचायक बन जाता है।''

संतों की यह महत्ता इसलिए है कि श्री हरि–कृपा के दर्शन सन्त दर्शन के रूप में होते हैं–

''बिन हरि कृपा मिलें नहिं सन्ता''

जीव का चरम लक्ष्य है प्रभु–प्राप्ति और वह प्रभु– कृपा पर निर्भर है तथा सन्त प्रभु की कृपा के अवतार होते हैं। उनके बिना प्रभु की प्राप्ति तो दूर, प्रभु–सत्ता का भान भी दुर्लभ है। एक महात्मा का कथन है– ''हवा तो पहले भी थी पर पत्तों के हिलने से ही उसकी प्रतीति होती है, इसी प्रकार भगवान् तो पहले से ही विद्यमान हैं पर भक्तों से ही उसकी प्रतीति होती है'' यही कारण है कि सन्त तिलक तुलसीदास जी ने कहा है–

''राम ते अधिक राम कर दासा''

श्री मुख का वाक्य है– ''मोते सन्त अधिक कर लेखे'' पुराण भी इस मत से सहमत हैं। पद्मपुराण का कथन है–

आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परमम्।
तस्मात् परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम्॥

अर्थ– समस्त आराधनों मे विष्णु की आराधना श्रेष्ठ परन्तु हे देवि उससे भी श्रेष्ठ उनके भक्तों का अर्चन है।

आदि पुराण में लिखा है :-

मम भक्ता हि ये पार्थ! न मे भक्तास्तु मे मताः

मद्भकतास्य तु ये भक्तास्ते मे भक्तातमा मताः

अर्थ- ''हे अर्जुन ! जो केवल मेरे भक्त हैं वे मेरे मान्य भक्त नहीं पर जो मेरे भक्तों के भक्त हैं वे मेरे परम भक्त हैं''

इसी आशय से पद्मपुराण में कहा गया है-

अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये

न ते विष्णोः प्रसादस्य भाजनं दाम्भिका जनाः

अर्थ- ''जो भगवान का पूजन तो करते हैं किन्तु उनके भक्तों का नहीं, वे प्रभु के कृपा पात्र नहीं हो पाते। उनकी पूजा, पूजा नहीं, दम्भ है।'' श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में स्पष्ट कहा है- 'मद् भक्तापूजाभ्यधिका' 'मेरी पूजा की अपेक्षा मेरे भक्तों की पूजा उत्कृष्ट है।'

इस प्रकार हमारे आस्तिक धर्म-ग्रंथों ने सन्तों की पदवी भगवान से भी ऊँची रखी है, परन्तु भारतीय दर्शनों में जैन-दर्शन एक ऐसा अद्भुत दर्शन है जिसने सन्तों के सम्मुख भगवान् को मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी, यद्यपि यह बात मैं अपने ढंग से कह रहा हूं परन्तु प्रतिपादित सिद्धांत के अनुरूप ही कह रहा हूं। जैन दर्शन ईश्वर को नहीं मानता पर उन्होंने सिद्धों का जो वर्णन किया है, उनमें जिन गुणों और शक्तियों का उल्लेख किया है तद्नुसार सिद्ध किसी ईश्वर से कम नहीं ठहरता। उनके मत से कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जीव, अनन्त ज्ञान, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति से सम्पन्न हो जाता है और ''तीर्थकर'' की पदवी प्राप्त कर लेता है। उसमें उपदेश देने तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित करने की शक्ति आ जाती है। १४ गुण स्थानों को क्रम से पार करता हुआ अंतिम स्थिति में पहुँचते ही साधक ऊपर उठने लगता है। लोकाकाश और आलोकाकाश के मध्य में एक नितान्त पवित्र स्थान है। यही स्थान सिद्धों की निवास भूमि है।

इसी को ''सिद्ध शिला'' कहा गया है। इस अर्हन्स्वरूप का वर्णन जैन विद्वान चन्द्रसूरि ने अपने ''आप्तनिश्चयालंकार'' ग्रंथ में करते हुए उसे परमेश्वर की संज्ञा से विभूषित किया है–

सर्वज्ञो जितरागादिदोष स्त्रैलोक्यपूजितः
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।

''सर्वज्ञ, रागादिदोष शून्य, त्रैलोक्य पूजित तथा यथार्थ वस्तु का वक्ता परमेश्वर 'अर्हन्' है।'' इस प्रकार जैनमत की दृष्टि से तो लोक मंगल का विधाता ईश्वर नहीं परन्तु अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न कैवल्य पद प्राप्त सिद्ध पुरुष होता है। वस्तुतः सिद्ध पुरुषों को इतना उच्च पद किसी दर्शन ने नहीं दिया।

ईसाई धर्म तथा मुस्लिम मत में ईश्वर की मान्यता है। उसे न्यायकारी एवं दयालु कहा गया है पर उनका मत है कि वह प्रभु अवतार नहीं लेता। वह तो विश्वसंचालन का सूत्र सन्तों के पवित्र हाथों में सौंप देता है। विश्व–कल्याण के लिए उनका सन्देश या उपदेश उनके दिव्य दूत लाते हैं। महात्मा ईसा को तो प्रभु का प्रिय पुत्र ही कहा गया है। इन मतों के अनुसार संसार को सही मार्ग बताने वाले केवल महात्मा हैं। इस सम्बन्ध में ईश्वर को कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं।

बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है, अनात्मावादी है। उसकी दृष्टि में वेदादि आर्षग्रंथ अश्रद्धेय एवं अनावश्यक हैं। महात्मा बुद्ध का महान् उपदेश है ''अपने दीपक अपने आप बनो।'' परन्तु उनके अनुयायियों ने अहिंसा तथा स्वावलम्बन के महान् उपदेशक महात्मा बुद्ध को ही ईश्वर मान लिया। उसी की पूजा होने लगी। उसी के विविध अवतार एवं जन्म स्वीकार किये गये। इस तरह उस मत में महात्मा बुद्ध ही विश्व विधाता के दिव्यासन पर आसीन हैं। विश्व के इन विविध धर्मों को देखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सन्तों, महात्माओं की महिमा सर्वत्र अखण्ड है। कोई ईश्वर को माने या न माने पर विश्व में

शांति, स्नेह एवं करूणा का व्रत लेने वाले सन्त संसार के लिए सदा श्रद्धेय तथा वन्दनीय होंगे। चाहे विज्ञान की उन्नति धरती के मानव को अन्तरिक्ष की हवा खिलाये या चन्द्रलोक की सैर कराये।

हमारा धर्म तो यह मानता है कि ईश्वर अवतार लेता है। वह अपने दिव्य नाम, दिव्य गुण और दिव्य चरित्रों का विस्तार करता है, जिन्हें अपना अवलम्बन बना के–उन्हें अपने चरित्रों में उतार के सन्त विश्व के सम्मुख व्यावहारिक आदर्श उपस्थित करते हैं। हमारे प्रभु का अवतार यों तो धर्म संस्थापनार्थ होता है परन्तु उनका प्रथम उद्देश्य सन्तों के प्रति स्नेह प्रकट करना तथा उनकी रक्षा करना होता है– गीता गायक का यह उद्घोष प्रसिद्ध है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे–युगे॥

इस श्लोक में अवतार लेने का सर्वप्रथम हेतु साधु–रक्षा है, इसलिए सन्त विश्व के सामने नहीं विश्व–भर के सामने याचना करते हैं। वह भी अपने लिए नहीं, विश्व के लिए। सन्त ज्ञानेश्वर जी ने कहा है ''क्या किसी सम्पन्न व्यक्ति की प्रिय स्त्री भी कभी रूखे सूखे अन्न के लिए किसी से भिक्षा माँग सकती है ?'' हे अर्जुन ! राम और कृष्ण आदि रूपों में सगुण मूर्ति धारण करके उनके पास दौड़ जाता हूँ, मेरे राम–कृष्ण आदि हजारों नामों को तुम हजारों नौकाएँ ही समझो। धर्म तथा नीति को एकत्र कर उन पर पुण्याक्षत छिड़कता हूँ। मैं अविचारों की कालिख साफ कर विवेक का दीपक उज्वल करता हूँ जिससे योगियों के लिए वह समय दीपावली के समान हो जाता है। पापों के पर्वत नष्ट हो जाते हैं, पुण्यों का प्रभात हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है– ''सो केवल भगतनि हित लागी'' वह केवल भक्तों के लिए प्रकट होता है, सन्त मत से सन्तों का दुलार ही अवतार का मुख्य हेतु है। ऐसे सन्त जहाँ स्वयं अवतीर्ण हों, धन्य वह देश, धन्य है वह भूमि एवं कुल। कितनी भाग्यशालिनी है वह भूमि जिसकी गोद में

ऐसे महाभाग महात्मा जन्म लेकर उसकी धूल में लोट–पोट होकर बड़े होते हैं। ऐसे ही एक सन्त रत्न, अर्चनीयचरण एवं वन्दनीय मूर्ति अनन्त श्री विभूषित 'करह वाले बाबा महाराज' थे, जिनका साधु–मार्ग का धन्यनाम श्री श्री १०८ बाबा श्री रामरतनदास जी महाराज था।

यों तो बड़े–बड़े सिद्ध महात्मा हो गये हैं। उनकी सिद्धाई की कथाऐं गाँवों के बूढ़े बड़े अब तक सुनाते हैं। उनके आश्चर्य पूर्ण चरित्रों को सुनकर श्रोता का हृदय श्रद्धापूर्ण हो जाता है। कुछ सन्त ऐसे भी हुए जो शास्त्रों के मर्मज्ञ थे, आर्षग्रंथों की जटिल ग्रंथियों के खोलने में कुशल थे, सुन्दर वक्ता एवं व्याख्याता थे और अब भी हैं, जिनके प्रति शिक्षित समाज में अपरिमित आदर है। ऐसे भी सन्त हैं जो संयम की मूर्ति हैं, नियमों के बड़े पक्के हैं पर ऐसे योग्य सन्तों के दरबार में जो सभ्य हैं, सुसंस्कृत हैं, शिक्षित हैं, सम्पन्न हैं, योग्य हैं या उनके अनुगामी हैं उन्हीं का प्रवेश होता है, उन्हीं की पूछ होती है। अथवा वहीं लाभ उठा सकते हैं, पर पूज्य बाबा महाराज का तो दरबार ही कुछ अनोखा था। तुलसीदास जी की निम्नलिखित पंक्ति में उसकी ठीक व्याख्या निहित है–

"यह दरबार दीन कौ आदर रीति सदा चलि आई"

उनके हृदय में तो प्राणीमात्र के प्रति करूणा का अगाध एवं अखण्ड स्त्रोत था, यह सत्य है कि मानव इस सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है, मानों भगवान् की वह अंतिम कृति है। उसके पश्चात् रचना के लिये विशेष कुछ बचा ही नहीं। और ठीक भी है, मानव तन साधना का धाम–मोक्ष का द्वार है। ऐसे स्वर्णिम शरीर के आवरण में आवृत्त आत्मा तो सर्वाधिक वन्दनीय है परन्तु पूज्य चरणों की दृष्टि इससे भी उच्च थी। उनकी पारदर्शी दृष्टि ऊपरी परतों को पाकर झिलमिले परदे में छिपी आत्मा की झलक पा चुकी थी। उनकी दृष्टि में यह व्यवहार अग्राह्य था कि मानव अपने मार्ग में मानव को तो दाहिने लेकर उसे बचाता हुआ चले और मानवेतर लघु जीवों को पैरों तले कुचलता चले। पूज्य चरणों की निष्ठा तो "सियाराममय सब जग जानी" की थी।

यह सिद्धांत केवल मौखिक या मान्यता मात्र में ही विचारणीय नहीं था अपितु व्यवहार में आचरणीय था, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे मानवता के प्रति उचित न्याय नहीं करते थे। वे वास्तव में उसके सच्चे पारखी थे। उनके पास शिक्षित आते, अशिक्षित भी आते, सज्जन आते, असज्जन आते, उच्च पदाधिकारी पहुँचते, साधारण व्यक्ति भी पहुँचते। सबके प्रति समान व्यवहार, सबके प्रति वही स्नेहमयी मुस्कान तथा सबके प्रति वही थोड़े से स्नेहसिक्त निश्छल वचन। न किसी उच्च व्यक्ति के प्रति कोई आकर्षण न तुच्छ व्यक्ति के प्रति उदासीनता। अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियाँ कई बार आईं पर पूज्य महाराज जी के सौम्य मुख–मण्डल पर शान्ति के साथ खेलती हुई मुस्कान की क्रीड़ा में चिन्ता की रेखाओं ने कभी खाई नहीं खींची। जहां उनकी प्रशंसा एवं स्तुति करने वाले पहुँचते, वहाँ उन्हें खरी–खोटी सुनाने वाले विकट खोपड़ी के लोग भी पहुँच जाते, इनमें द्वितीय वर्ग के लोग विशेष कृपापात्र होते थे।

अत्यन्त दीनदयाल। शंकर जैसे बड़े भोले और शंकर जैसे दिन रात राम नाम के जापक। इसी स्वभाव के कारण उन्हें शंकर की बारात सदा घेरे रहती थी, शिवजी की विचित्र बारात की तरह लूले लँगड़े, दीन–हीन, उद्दण्ड और नम्र, विकट वेष और सौम्य रूप के लोग उनके निजी परिकरों में से थे उनकी इस विचित्र रहनी के मारे बड़े–बड़े धैर्यशाली दूर भागते, उन पर झुंझलाते, अप्रसन्न होते पर वे अपनी धुनि में रहते। वे तो द्वन्द्वात्मक विश्व का नमूना सामने रखकर साधकों को पाठ पढ़ाने बैठे थे। जिन्हें कोई न पूछता उन्हें सबसे पहले पूछकर आदर देते और आनन्दस्नात नयनों से, मुस्कान–मण्डित मुख से तथा आशीर्वादात्मक मुद्रा में उठे अपने करकमल से कृपा बरसाकर उन्हें अपने समीप बिठाके उन्हें अपने इष्ट का रूप मानकर कृपापुलकित हो उठते थे, बलैया लूँ ऐसे स्वभाव की।

"अस स्वभाव कहुँ सुनहुँ न देखों"

हम पूज्य परम गुरु देव की जन्मभूमि ''जरारे'' ग्राम में उनके जन्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ घटनाओं का पता लगाने गये थे। सम्पूर्ण ग्राम परिश्रम का धनी एवं आस्तिकता की प्रतिमूर्ति है। वहाँ के लोग सुखी, प्रसन्न, सच्चे हृदय, सरल–स्वभाव तथा निष्कपट व्यवहार के मिले। देखने में मुझे ऐसा लगा मानों यहाँ कलियुग का प्रवेश नहीं है। ऐसे ही रत्नों की खान से तो वह अनमोल हीरा निकला था। एक नीतिकार ने कहा है– ''आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः'' ''परम्रागमणियों की खान में कांच के पोत कहाँ ?''

पूज्य चरणों का जीवन एक जन्म की साधना का फल नहीं था, वह तो न जाने कितने ही जन्मों की अनवरत तथा सच्ची साधना का फल था। उनकी जीवनी तो हमें अपने जीवन में उतारनी थी– हमें अपने हृदय में लिखनी थी परन्तु आज हम उनकी जीवनी को कागज पर प्रस्तुत कर रहे हैं, यह एक विडम्बना की बात है क्योंकि हम मानते हैं कि महापुरुषों को न मूर्ति में ही पाया जा सकता है और न जीवनी में ही उन्हें तो हम अपने अन्तस् में ही पा सकते हैं। भला दीपक की लौ को भी कहाँ बैंकों में जमा किया जा सकता है ? या उसे कागज पर चित्रित कर कहीं अँधेरा दूर किया जा सकता है ? वस्तुतः उसे पाने के लिए, उसे सतत प्रज्वलित रखने के लिए स्नेह की आवश्यकता होती है। इस तरह एक दीपक की लौ को दूसरा सस्नेह दीपक ही ग्रहण करता है। इस दृष्टि से किसी भी महापुरुष को हम अपने विकास में ही प्राप्त कर सकते हैं परन्तु प्राप्तव्य तक पहुँचने के लिए प्रतीक क, उन्नत प्रासाद पर पहुँचने के लिए सोपान मार्ग की, और जैसे विद्या में प्रवेश पाने के लिए वर्णमाला की आवश्यकता होती है वैसे ही अपने जीवन को उचित दिशा प्रदान करने के लिए हमारे सम्मुख आदर्श चरित्रों की रूपरेखा का होना परमावश्यक है। क्योंकि बिना आधार के चित्र नहीं बनाया जा सकता, सन्तों के चरित्र सम्मुख रहते हैं तभी किसी न किसी को प्रेरणा मिलती है। भूमि विस्तृत है, काल अनन्त है,

जीव अनन्त है, यदि कहीं, कभी और किसी एक हृदय को भी इस चरित्र से प्रेरणा मिलती है तो मेरा सम्पूर्ण श्रम सफल हो जायेगा। वस्तुतः मैं तो इतने से ही सन्तुष्ट हूँ कि मैंने अपने जीवन में सर्वप्रथम पुस्तकाकार कुछ लिखा तो वह सिद्ध सन्त का पावन चरित्र है अतः इसमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती है किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि सन्त चरित्रों के अध्येता श्रद्धालु होते हैं, गुणग्राही होते हैं, अतः उनकी श्रद्धा–धारा में मेरी समस्त त्रुटियाँ उपलखण्डों की तरह न जाने कहाँ बह जायेंगी।

इस कार्य को मैं अकेला कदापि न कर सकता था। इसे सफल बनाने का श्रेय तो गुरुजनों की कृपा को, मित्रों के स्नेह तथा श्रद्धालुओं के प्रोत्साहन को है। जीवनी का अधिकांशतः चरित्र–परिज्ञान मुझे पूज्य श्री छोटे महाराज जी के द्वारा प्राप्त हुआ है। बाल–जीवन विषयक जानकारी, परमगुरुदेव की जन्मभूमि के लोगों से तथा नूराबाद के देवीराम बौहरे से प्राप्त हुई। छोटे रघुवीरदास जी ने घटना–क्रम एवं घटना–काल के निर्णय में मुझे विशेष सहायता दी। विश्वास–वर्धक एवं भावात्मक कुछ चरित्रों की सूचना मुझे मनीरामदासजी पुजारी ने दी। स्थान की सेवा करने वाले, विनोद प्रियता के नाते गाँव–गाँव, गृह–गृह के सुपरिचित साधु धर्मदासजी ने कुछ बातें बताईं।

इस चरित्र को लिखने में मेरा जितना समय बीता, वह उनके पवित्र–चरित्रों के चिन्तन में बीता है, मस्तिष्क सदा उसी ओर एकाग्र रहा। अतः मुझे बड़ा सुख मिला, सुखद शान्ति का स्वाद मिला।

यह स्मरणीय क्षण मेरे जीवन के वे सुरभित सुमन हैं जिनकी मधुर–गंध सदा महकेगी।

दोहा–जहँ सज्जन तहं प्रीति है प्रीति तहाँ सुख ठौर,
जहाँ पुष्प तहँ वास है जहाँ वास तहँ भौर।

– सन्तचरण रेणु
रामजी ब्रह्मचारी
साहित्य व्याकरणाचार्य

जन्म और बाल्य जीवन

किं कुलेन विशालेन शीलमेवात्र कारणम्
कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु

– सूक्ति रत्नाकार

''विशाल कुल होने से कोई लाभ नहीं लोक में शील की ही प्रधानता होती है। क्या सुगन्धित पुष्पों में कीड़े उत्पन्न नहीं होते ?''

महापुरुष समस्त विश्व की निधि होते हैं। उनकी ज्ञान–ज्योति निखिल जन–जीवन के पथ को आलोकित करती है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सम्पूर्ण आकाश का स्पर्श करता है, धरती के विविध रूपों का स्पर्श करता है पर आकाश या धरती सूर्य को अपनी सीमा में बाँध नहीं सकते। इस दृष्टि से वह सबका है और सबसे अलग है। फिर भी वह पूर्व में उदित होता है। अतः पूर्व दिशा के गौरव को कोई छीन नहीं सकता क्योंकि निखिल विश्व का प्रकाशक ज्योतिष्मान् सूर्य सर्वप्रथम प्राची के ललाट का ही अरुणिम तिलक बनता है। महापुरुष देश के बन्धनों से मुक्त हैं वे सर्वदेशीय होते हैं फिर भी वे जिस कुल को अपने जन्म से अलंकृत करते हैं उस कुल के सौभाग्य को कौन न मानेगा ?

दोहा –

सोकुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत
श्री रघुवीर परायन जेहि नर उपज विनीत

– रामचरित्र मानस

पूज्य परम गुरुदेव की जन्म भूमि होने का अहोभाग्य वैसे तो समस्त भारत–भूमि को है पर उसमें भी उसका हृदय स्थानीय मध्यप्रदेश अधिक भाग्यवान है, परन्तु उसमें भी मुरैना–मण्डल में जी.आई.पी. रेलवे के सांक स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग आधा मील दूरी पर सांक–नदी के हरित–तट पर स्थिर 'जरारा' ग्राम सर्वाधिक गौरवशाली है। पूज्य चरणों की जन्म–भूमि होने का परम सौभाग्य उसी ग्राम को प्राप्त है।

संवत् १९४८ की बात है। तोमर गोत्रीय गुर्जर क्षत्रियों के एक धर्मनिष्ठ परिवार में विजयकुँवरि देवी की मंगलमयी कोख से श्री चतुर्भुजसिंह के यहाँ श्रीराम–विवाह की शुभतिथि अगहन सुदि पंचमी के दिन एक असामान्य बालक ने जन्म लिया। बड़ी साध एवं कोटि–कोटि कामनाओं तथा विविध मनौतियों के फलस्वरुप पुत्र का प्यारा मुख देखने को मिला था अतः माता–पिता की प्रसन्नता का तो कहना ही क्या था। ग्राम की, पास पड़ौस की तथा कुल गोत्र की सौभाग्यवती स्त्रियों ने बालक का मुख देखा। राई नोंन उतारा। मंगल गीत गाये। सम्पूर्ण ग्राम में सोहर के स्वरों ने आनन्द–मंगल की सूचना दी। अज्ञात रूप से ही, बिना विशेष नाते–रिश्ते के भी सबसे हृदय में आनन्द की लहर दौड़ गयी। सारा ग्राम उस सुख का भागी बना। ऐसा लगता था कि उत्पन्न बालक भविष्य में समग्र ग्राम का गौरव बनेगा। केवल गृह दीपक या कुल दीपक ही नहीं, ग्राम दीपक भी बनेगा, पर सबको क्या पता था कि बचपन से ही भोलेपन का अवतार छोटा–सा यह बालक भविष्य में अनेक गृहों, कुलों का, अनेक ग्राम एवं अनेक नगरों का महान् गौरव बनेगा तथा भारतीय सन्तों की रत्नमाला का एक देदीप्यमान रत्न होगा। तभी तो माता–पिता ने उसका नाम 'रत्नसिंह' रखा। वस्तुतः नाम बड़ा ही सार्थक सिद्ध हुआ।

वे सिंह थे– निर्भयता पूर्वक विरोधी परिस्थितियों का सामना करने के लिए और वे रतन थे– मानव समाज में सन्त समाज में। पर उनका सिंहत्व केवल उन्हीं के लिए था, केवल विषम परिस्थितियों के विरुद्ध था। जन–जन के लिए तो वे 'नर भूषण लोचन सुखदाई' हृदयहारी रत्न थे। यही कारण है कि लोग उन्हें रतना, के रूप में जानते थे। सबके पुकारने का दुलारा नाम यही था। नाम ही नहीं काम भी उनका ऐसा ही था। बिलकुल विचित्र स्वभाव लेकर आये थे वह। बहुत से लोगों की धारणा है कि शैशव का चाञ्चल्य बुद्धिमत्ता का
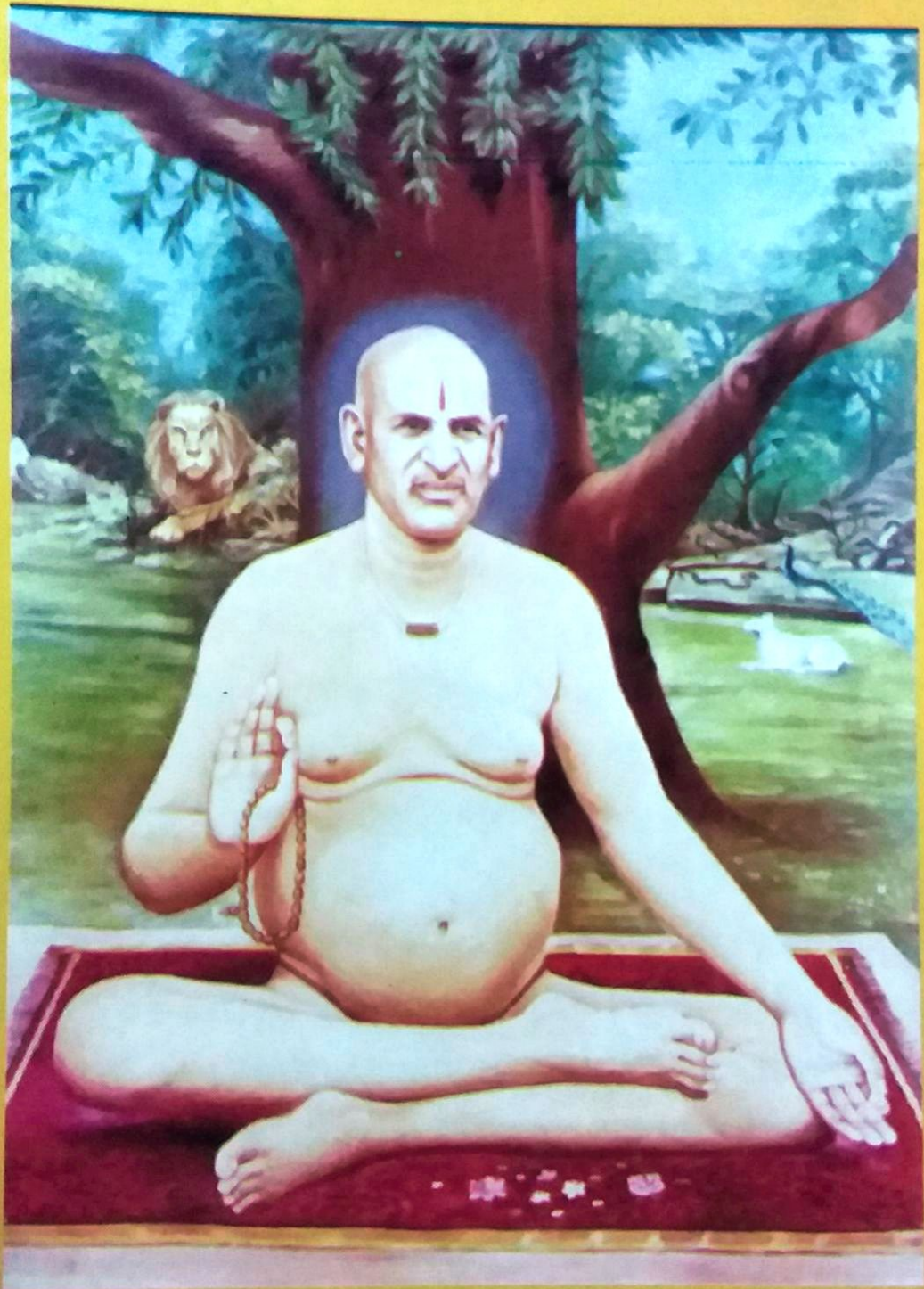
श्री पूज्य बड़े बाबा रामरतनदास जी महाराज

सूचक है। जो बालक बचपन में अधिक चपल होते हैं वे भविष्य में अधिक चमकते हैं। तेज बुद्धि के होते हैं और वस्तुतः ऐसे ही लोग लोक में व्यवहार–कुशल एवं वाक्–पटु होते हैं। पर यहाँ की बात ही दूसरी थी। चुपचाप गुम–सुम बैठे रहते। उन्हें अधिक रोना–धोना तो जैसे आता ही नहीं था। उनका यह स्वभाव माता के लिए बड़ा सुविधाजनक था। वे अपना काम निर्विघ्न किया करतीं। रतननिंह को जहाँ बिठा दिया जाता वहीं बैठे रहते, अपने आप से ही खेला करते। हँसा करते। आखिर जन्म योगी ठहरे ! इस बाल यती के स्वभाव को न समझने के कारण कुछ लोग कहते– लड़का बड़ा बुद्धू है, इसमें लड़कों जैसा लड़कपन है ही नहीं। कोई कहते ''शारीरिक दुर्बलता है, इसलिए कम बोलता है, सुस्त रहता है। खूब दूध–ऊध पियेगा ठीक हो जायेगा'' पर असली बात को कौन जान सकता है। योगी की परख सिवा योगी के कौन कर सकता है। धीरे–धीरे बालक रतना बड़ा हुआ। वह घर से बाहर खेलने लगा। रतना के साथ–साथ माता–पिता की आशाएँ भी बढ़ गयीं पर इन आशाओं के मूल में अन्तर्यामी की लीला कुछ और ही चल रही थी।

रतना अभी छोटे ही थे कि उनके पिता चतुर्भुजसिंह का स्वर्गवास हो गया। पर इस घटना का उन पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः इस दुःख को उनकी अबोध अवस्था ने ही बाँट लिया। उन्हें क्या पता था कि उनका उन्मुक्त एवं निश्चिन्त होकर खेलने खाने का सौभाग्य जाता रहा। हाँ, माँ दुखी रहतीं, वह रोतीं, उदास रहतीं तो बालक इतना ही अनमना हो जाता था। आगे चलकर इन्हें पिता का अभाव अखरा। गृहस्थी का भार अब केवल माँ संभालती थी और रतनसिंह माँ के आज्ञाकारी बेटे थे। पर इस कठिनाई में उनकी दैवी शक्ति को और अधिक बल मिला। जन्म से ही वैराग्य की जिस छाया का आभास था वह गहरी होकर स्पष्ट होने लगी।

पिता के न रहने पर अकेली माता रह गयीं। माता तो ममता की मूर्ति होती ही है फिर उस माँ के वात्सल्य का क्या कहना जिसके नेत्रों का प्रकाश वृद्धावस्था का एक मात्र सहारा एक ही पुत्र है। माता विजयकुँवरि बालक रतना के साथ प्रत्येक कार्य में छाया की तरह लगी रहतीं। पर बालक को यह बात अच्छी न लगती। वह बराबर अकेले रहने का प्रयत्न करता। काम करता तो अकेले, उठता बैठता तो अकेले, केवल माता के पास सायंकाल तब बैठता था जब माता रामायण–महाभारत सम्बन्धी कुछ कथाएं कहतीं। बड़े चाव से सुनते रतनसिंह। माता ने देखा कि रतन में अनेक गुण प्रकट होने लगे हैं। गौ ब्राह्मण सेवा, साधु सेवा, दीन–हीनों की सेवा और ईश्वर के प्रति अटूट अनुराग, ये दुर्लभ भागवत–गुण अल्पवयस्क बालक में दिखने लगे।

रोला–

वसु युगाडंग शशि गणित सुभग संवत् अति पावन
तेहि महँ षद् ऋतु मध्य धन्य ऋतु शिशिर सुहावन
तेहि महँ अगहन मास पक्षसित मंगल कारी
धन्य धनिष्ठा नखत पंचमी तिथि अति प्यारी
ता दिन कोउ एक जननि सुकृत सूरति बड़ भागिनी
सुखद वेदना प्रसव करन सों सही सुहागिनि
सन्त पूत जनि भई धन्य जो अखिल भुवन में
वामन वटु जनि पूज्य अदिति ज्यों सुर मंडल में
रतनदास से सन्त जहाँ प्रकटे जगपावन
विजय कुँवरि की कोखि धन्य सब भाँति सुहावन
धन्य वहाँ की भूमि प्रथम पग टिके जहाँई
जाने काद्यौं नार धन्य बड़ भागिनि दाई।
जिन पोसे पय प्याय धन्य सो पुण्य पयोधरा
जहँ सोये सानन्द धन्य सो गोद गुनाकर।

जथा नन्द वसदेव अवध भूपति श्रुति गाये
तथा चतुर्भुजसिंह पिता पद पाय सिहाये।
धन्य जरारो ग्राम धन्य धूली गलियनि की,
जिन वीथिन में रची रुचिर लीला शिशुपन की।

वास्तव में यह एक विचित्र बात थी। वे किसी पाठशाला में पढ़ने नहीं गये, तब शास्त्रीय सिद्धांतों के ज्ञान की चर्चा हीं दूर थी, फिर भी उनमें अद्‌भुत गुण प्रकट होने लगे वस्तुतः वहाँ तो 'उर प्रेरक, रघुवंश विभूषण थे। सब कुछ अन्तः प्रेरणा का ही सुपरिणाम था। उन्हें शिक्षा क्यों न प्राप्त हो सकी, इस विषय में कारण स्पष्ट थे। एक तो उन दिनों नागरिक चेतना से शून्य पिछड़े हुए ग्रामों में राज्य की ओर से कोई प्रबन्ध नहीं था। दूसरे लोगों की आर्थिक दशा बहुत गिरी हुई थी। पर इनका तो जिस परिवार में जन्म हुआ था वह परिवार कितनी ही पीढ़ियों से शिक्षा से कोसों दूर था। उसका तो सदैव यही लक्ष्य रहा कि दुधारू पशुओं का पालन, कृषि करना और मुख्यतः अपने शरीर को खूब हृष्ट–पुष्ट एवं बलिष्ठ रखना। इन सब कारणों से उनकी लौकिक–शिक्षा का श्री गणेश तक न हुआ परन्तु हम तो इसे प्रभु की कृपा ही मानते हैं। उन्हें इन बाह्म शिक्षाओं की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। जिस शिक्षा का उद्‌देश्य केवल उदर–पालन है, कर्तव्य पालन नहीं तथा जिसका लक्ष्य अपने दोष छिपाना और दूसरों के दोषों को प्रकट करना है, जिसका धर्म और ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है वस्तुतः वह विद्या नहीं अविद्या है। 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वह है जिससे 'प्रभु–प्राप्ति हो' और इस परिभाषा के अनुसार रत्नसिंह अवश्य ही विद्यावान् थे। क्योंकि प्रभु–प्रासि के लिए जिस साधन की आवश्यकता होती है जो लक्षण आवश्यक होते हैं वे सब इनमें स्वतः अविर्भूत थे।

गौ-सेवा

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः
प्रन बोचं चिंकितुषे जनाय मागामनागा मदितिं वधिष्ट।

ऋग्वेद ८/१००

''गाय रुद्रों की माता है, वसुओं की पुत्री एवं आदित्यों की भगिनी तथा अमृत की केन्द्र है। मनुष्यों ! उस निरपराध अदिति रुपिणी गौ का वध न करो।''

वस्तुतः आदिकाल से भारतीयों के हृदय में गौजाति के प्रति अगाध श्रद्धा रही है। वैदिक-युग तो गायों के उत्कर्ष का महान् युग था, क्योंकि हविष्य के बिना यज्ञ नहीं हो सकता था। और हविष्य बिना गौ-दुग्ध नहीं बन सकता था। बिना गोबर के यज्ञवेदी पोती नहीं जा सकती थी और बिना गौ-करीषों (कण्डे) के यज्ञाग्नि प्रज्वलित नहीं किया जा सकता था। बिना 'पंचगव्य' पान किये यजमान यज्ञ करने का अधिकारी नहीं हो सकता था। तथा बिना गौमूत्र और गोबर के पंचगव्य बन नहीं सकता था। गौघृत बिना हवन नहीं हो सकता था और हवन के बिना यज्ञ हो कैसे सकता था ? इन सब कारणों से हमारे यहां गौजाति का अद्वितीय महत्व सदा से रहा है, और वह केवल भावनात्मक दृष्टि से नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी था। अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि ''जहां तक सूर्य का प्रकाश जाता है, गायें सबकों समान रूप से लाभ प्रदान करती हैं। देव, मनुष्य, राक्षस सभी उसके दूध से लाभ लेते हैं।'' हमारे चरित नायक रतनसिंह भी अद्वितीय गौभक्त थे, उनमें अद्भुत गौ भक्ति थी, घर में दो गायें थीं। वे उन्हें चराने जाते-नंगे पैरों, खुले सिर। माता कहती- ''बेटा रतना, पैरों में जूता तो पहन जा'', ''माँ ! मैं कैसे जूता पहनूं ? गैया माता के चरणों में भी तो जूता नहीं है ! वह भी नंगे पैरों हैं, मैं भी नंगे पैरों जाऊँगा'' यह उत्तर था
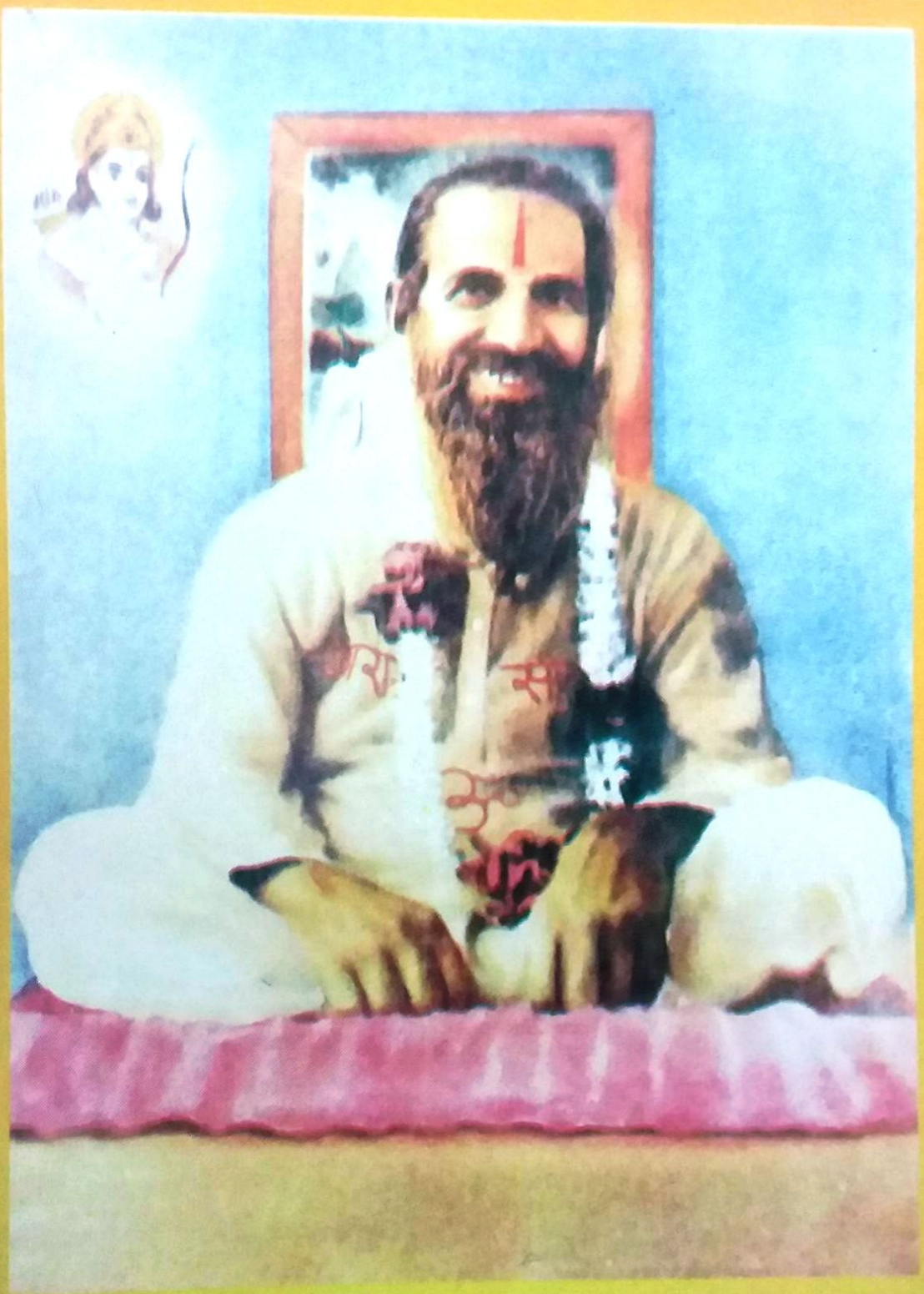
श्री पूज्य बाबा रामरतनदास जी महाराज

रतनसिंह का। चराने के लिए जब गाये खोलते तो सबसे पहले गायों के चरण छूते। यह माता की शिक्षा थी। ''गावो विश्वस्य मातरः'' ''गायें विश्व की माताएँ हैं।''

वेद की इस शिक्षा का यहां क्रियात्मक रूप से पालन होता था। चरण छूकर गायें खोलते और ''कन्हैया'' (एक ग्राम–गीत) गाते हुए गौचारणार्थ चले जाते। हाथ में डण्डा अवश्य रहता था पर लोगों का कहना है कि डण्डे से गाय मारते उन्हें कभी नहीं देखा केवल डराने भर को डंडा रखते थे ताकि गायें किसी दूसरे के खेत में न जा लगें। दिन भर गायें चरतीं और स्वयं हरी–हरी घास खोद लेते। सायंकाल घर लौटते। घास को नदी में धोकर लाते और उसे गायों की नाद में डाल देते। गौ–सेवा का यह कार्य उन्हें सबसे अधिक पसन्द था। एक दिन की बात है, प्रातः गौचारणार्थ गायें खोलने पहुंचे। जहाँ गायें बँधती थीं वहां रतना के पैर में एक कंकड़ गड़ गया और उसके साथ ही इनमें मन में एक बात भी कंकड़ की तरह गड़ गयी। उन्होंने देखा कि ऐसे छिदने वाले नुकीले कंकड़ यहाँ बहुत पड़े हैं और मेरे तो ये पैर में ही गड़े हैं पर गायों के तो बैठते समय उनके पेट में गड़ते होंगे, थनों में चुभते होंगे जो बहुत सुकोमल होते हैं। बस इतना ध्यान में आना था कि दौड़े–दौड़े गये और खूब मुलायम पीली मिट्टी खोद–खोद कर लाये। उस मिट्टी को गायों के नीचे बिछाया। मोगरी से कुटकर अच्छी तरह सुकोमल किया जिससे गायों को बैठने में उस पर गद्दा जैसा आनन्द आये। गायें अब उसी पर बँधतीं और बैठतीं तथा कृतज्ञता भरी सजल आँखों से रतना पर मूक आशीर्वाद की बरसा करती। यह गौभक्ति मौखिक नहीं क्रियात्मक थी, फलतः केवल उसी गाँव में नहीं, आसपास के अन्य गाँवों में भी उनकी जैसी हृष्ट–पुष्ट एवं दर्शनीय गाय दूसरी नहीं थी। उन गायों की सन्तान–परम्परा में आज भी एक गाय उनके परिवार वालों के यहाँ विद्यमान है जो कि वस्तुतः उनके अनुरूप

ही है। गौसेवा का यह भाव उनके हृदय में अधिक से अधिक दृढ़ होता गया। सभी कार्यों में उन्हें इस बात पर ध्यान रहता था।

उन्हें खेत पर रखवाली करने भेजा जाता, वे बड़ी प्रसन्नता से चले जाते। एक बार की बात है, खेतों में पका हुआ गेहूँ लहलहा रहा था, रतना खेत की मेड़ पर बैठे थे– न जाने किस ध्यान में। इतने ही में एक तरफ से कुछ गायें खेत में घुसने लगीं। गायों की खड़बड़ाहट इनके कानों में पड़ी, आँख उठा के देखा तो रतनसिंह धर्मसंकट में पड़ गये, क्योंकि एक ओर तो खेत रखाने की माता की आज्ञा थी, दूसरी ओर कृष्ण–कन्हैया की गैयाँ थीं। वे बिना बुलाये अतिथि–सत्कार ग्रहण करने बढ़ी आ रही थीं। यदि गायों को नहीं भगाते हैं, तो वे आनन–फानन में मनों अनाज का सफाया किये देती हैं, भगाते हैं तो गौमाता का अपमान होता है। 'धर्म सनेह उभय मति घेरी' वाली समस्या सामने थी। इस समस्या का उन्होंने एक समाधान ढूँढ़ा। वे खेत की मेड़ पर खेत की ओर से मुंह फेरकर बैठ गये। बस फिर क्या था, लपक कर गौ माताओं ने खेत में भोग लगाना शुरू कर दिया और रतना ने गायों का चरते देखा ही नहीं, भला भगाते कैसे ? किसी ने जाकर माता विजयकुँवरि से कह दिया कि खेत में गायें चर रही हैं। माता दौड़ी हुई आईं, देखा, गायें बेखटके खेत खा रही हैं और उनका सपूत खेत की मेड़ पर पश्चिम की ओर मुंह घुमाये बैठा है। बहुत गुस्सा हुईं, गायें भगाईं, रतना को बहुत डाँटा तो बिलकुल भोले भाव से बोले माँ ! मैं सौगन्ध खा के कह सकता हूँ कि मैंने गायों को देखा तक नहीं, बात तो ठीक ही थी। उनका यह उत्तर ऐसा था मानो गोपाल कन्हैया अपनी यशोदा मैया से सब कुछ जानते हुए भी बड़े भोले बनके बोल रहे हैं। गौ–भक्ति का यह अतीव श्रद्धापूर्ण भाव उनके मन में सदा रहा। समझदार हो जाने पर भी उनकी इस भावना में तनिक भी त्रुटि नहीं आई।

जीविका के लिए इनके पास एक–दो खेत थे। रतना तब घर का सभी काम करने लगे थे। गायें चराते, हल चलाते और गाड़ी भी हांकते थे। इन सभी कार्यों में गाय–बैलों का घनिष्ठ सम्पर्क था। पर इस अति परिचय के कारण गौजाति की कभी अवज्ञा नहीं की। उनके प्रति वे सदा सदय रहे। लोगों का कथन है कि ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं जब झुँझला के उन्होंने गाय–बैलों को मारा हो। यहाँ तक कि व्यवहार में लोग इनके आचरण को अत्यन्त उपहासास्पद मानते थे और उनकी यह मान्यता स्वाभाविक ही थी। क्योंकि लोगों की दृष्टि में सिद्धांतों की मूल, भावना में होती है व्यवहार में नहीं परन्तु असाधारण व्यक्ति की दृष्टि में व्यवहार ही सिद्धांत की कसौटी बनता है। ऊँचे–ऊँचे सिद्धांत, बड़ी–बड़ी बातें यदि व्यवहार में आचरण में नहीं उतरतीं तो वे व्यर्थ हैं। रतनसिंह तो असामान्य व्यक्ति थे, वे किसी की हँसी की तनिक परवाह नहीं करते थे। खेत में हल जोतते, बैल अपनी तबियत से चलते। यदि अधिक धीमे चलने लगते तो ऊपर पैनियां घुमाते हुए कहते– ''हाँ भैया चलो।'' बगल के खेतों में हल चलाने वाले दूसरे किसान व्यंग्य कसकर अपने बैलों को सम्बोधित करते हुए कहते– ''हाँ भैया चलों'' उधर तो घोड़े दौड़ रहे हैं अरे वाह रे रतनसिंह ! रतनसिंह सब सुन लेते और कहने सुनने का सारा असर अपनी मन्द मुस्कान के रूप में बिखेर देते । किन्तु अपने बैलों की पीठ पर प्यार भरी थपकी को छोड़कर पैनियां कभी नहीं छुआते थे। उनकी यही रीति गाड़ी हांकने में थी। ऐसी थी उनकी गोभक्ति।

अपार उदारता

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

''यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार के विचार तुच्छ हृदय वाले रखते हैं किन्तु उदार चेताओं का अपना कुटुम्ब तो सारी ही वसुन्धरा है।''

औदार्य गुण मानवता का पूर्ण लक्षण है उसके बिना अनन्त कलाकुशल व्यक्ति को भी महान् आत्मा के पद से विभूषित नहीं किया जा सकता। महाभारत एवं कई पुराणों में कहा है कि जो व्यक्ति विशाल शैलमालाओं को, दूर–दूर तक विस्तृत वनश्रेणी को और ग्रह–नक्षत्र–विभूषित नभो–मण्डल को ध्यान से देखता है उसका हृदय विशाल होता है, विचार उच्च होते हैं। इस कथन में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। सीमित स्थान, सीमित निवास आदि ममता के छोटे–छोटे घेरे हैं। ममता जब इन सीमित परिधियों में कसने लगती है तब वह मानवता को संकीर्ण बना डालती है, मनुष्य की दृष्टि संकुचित होकर क्षुद्र हो जाती है। उदारता ठीक इसके विपरीत होती है उसका रूख सीमित से असीमित की ओर होता है परन्तु इस गुण का निर्माण नहीं विकास किया जा सकता है, इसके बीजों को तो प्रभु की कृपा ही बोती है। हमारे चरित्र–नायक में इस गुण के अंकुर १४–१५ वर्ष की अवस्था से ही फूटने लगे थे। वे साधु ब्राह्मणों का आदर तो करते ही थे। जहां कहीं देख लेते, प्रणाम अवश्य करते थे। इस कार्य में उनसे कभी चूक नहीं होती थी। पर एक विलक्षण बात और थी। वह बात जातीय परिधि के बाहर की थी।

वे भूँखे– प्यासे को देख नहीं सकते थे। भूखा प्यासा चाहे किसी भी जाति का हो। यहाँ तक कि चाहे वह भंगी, चमार ही क्यों न हो, उसे अपने घर बुला ले जाते और माता की अनुनय विनय कर उसे अवश्य भोजन दिला देते। यद्यपि इनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, इसलिए माँ कभी–कभी इन पर बहुत खीझ उठती पर रतना का दुलार उसे रखना ही पड़ता था। वे खेतों पर जाते, हल चलाते या

गाड़ी लेकर जाते तो माता रोटियां बनाकर साथ रख देती थीं। गाय चराते समय यदि किसी ग्वाल के पास रोटियां न होतीं या कम होतीं तो रतनसिंह झट से अपनी रोटी दे देते। यदि कोई कहता अपनी रोटी मुझे दे दोगे तो तुम क्या खाओगे ? रतना मुस्कुरा के कहते– ''आज मैं घर से इतना खाके चला था कि पेट में पानी पीने की भी जगह नहीं हैं।'' उनके औदार्य गुण की प्रशंसा करते हुए उनके साथ गाय चराने वाले कई वृद्ध अपनी आँखों में आंसू भर लाते हैं। उनकी इस व्याकुलता को देखकर मुझे एक पौराणिक घटना याद हो आई। समुद्र से चन्द्रमा निकाल लिया गया तो समुद्र के जल–जीव बड़े खिन्न हुए। उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ कि चन्द्रमा रात दिन हमारे साथ रहा पर हम उसे समझ न पाये। साथ रहके भी उनके अमृत से वंचित रहे। इसी प्रकार रतनसिंह रात दिन इनके साथ रहे, उनमें उठे–बैठे, हँसे खेले पर उनके गुणों की ओर ध्यान तब गया जब वह छोड़कर चले गये। फिर भी उन्हें इस बात का स्वाभिमान है कि वे हमारे हैं। उनकी कीर्ति में हमारा भी साझा है उनकी राम–भक्ति के साथ, उनकी महिमा और प्रभाव के साथ हम लोग भी सदा रहेंगे–उनकी यही भावना है।

परधन निधन समान है

वरं द्रारिद्र मन्यायप्रभवाद् विभवादिह
कृशताऽभिमता देहे पीनता नतु शोफतः

''अन्याय से प्राप्त धन की अपेक्षा निर्धनता श्रेष्ठ है। शरीर में दुबलापन भला है पर उसमें सूजन से आया हुआ मोटापन ठीक नहीं।''

यह बात हम पहले ही बता चुके हैं कि हमारे चरित्रनायक परिवार की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। उस पर भी अकाल पड़ा। लोगों को खाने–पीने के लाले पड़ रहे थे। ऐसे अवसर पर अपने ईमान को वही ठिकाने रख सकते हैं जो राम के प्यारे होते हैं। बात ऐसे ही

कठिन समय की है। जरारे ग्राम के एक बोहरे थे। नाम था पहाड़सिंह। वे केवल रुपये–पैसे के ही धनी नहीं थे, श्रम के भी धनी थे। पहाड़सिंह खेतों पर ''कटिया'' लेने जाते। वहीं कटिया काटते, शाम को उसे लेकर घर पर लौटते। एक बार वे कटिया काटने लगे। उनके गले में सात मोहरों का स्वर्ण मुद्राओं का कंठा कटिया काटते समय कण्ठ में बार–बार उछलता और टकराता। उसकी यह हरकत उन्हें अच्छी न लगी। सोने का हुआ तो क्या ? उसे गले लगाने का यह मतलब तो था नहीं कि छाती पर उसका कोई पाद–प्रहार सहले ! बोहरे ने कण्ठे को गले से उतार कर आक के पेड़ पर रख दिया और कटिया काटते रहे जब अपने कार्य से निवृत्त हुए तो गले में कण्ठा पहनने की याद ही न रही। कटिया को खेस में बांधा और घर चले आये जब गाय–बैल कटिया खाने में लगे थे और स्वयं भोजन करने में, तभी भीतर से पूछ दिया– ''गले में कण्ठा दिखाई नहीं देता।'' पहाड़सिंह के गले का कौर गले में ही अटक गया। हाथ का हाथ में ही रह गया। वे उसी समय तत्काल उठकर खेत पर दौड़े हुए गये किन्तु कण्ठा गायब था। घर भर दुःखी हो गया। गांव में भी समाचार फैल गया कि बोहरे का कण्ठा खो गया।

तीन दिन बाद रतना की माता विजयकुँवरि बोहरे पहाड़सिंह के घर पहुँचीं। आंचल में से मोहरों का कण्ठा निकाल कर बोहरे के हाथ पर रख दिया। बोहरा तो आश्चर्य और प्रसन्नता के समुद्र में फिसल पड़ा। वह निर्णय ही न कर सका कि वह क्या कहे तब तक माता ने स्वयं कहा– बोहरे जी, कण्ठा पहुँचाने में देर हो गयी, क्षमा कीजियेगा। आपका कण्ठा रतन को 'हार' (खेतों) में मिला था। वह जब गाय चराके लौट रहा था तो उसे आक के पेड़ पर कण्ठा चमक गया और उसे वह घर ले आया था। उसने कहा था कि यह कण्ठा शायद बोहरे का होगा। तुम जाके पूछ आना। बोहरे जी ! मेरे उस समय हाथ खाली

नहीं थे रतना ने इसे घर के आले में रख दिया। मैं काम धन्धे में भूल गयी, मुझे कण्ठे की याद न रही। आज जब रतना ने कण्ठा को वहीं धरे देखा तो उसने कहा कि अभी तब इसे क्यों नहीं पहुँचाया। यह कण्ठा बोहरे का ही है।'' मैं सब काम छोड़के कण्ठा देने चली आई, देर इसलिए हो गयी थी। घर का काम देखना है, अब मैं जाती हूँ।'' ऐसा कहके माता विजयकुँवरि चली गयीं। धन्य है माता का स्वर्गीय भोलापन, धन्य है उसके पुत्र की निर्लोभ–वृत्ति। न उन्हें कण्ठा का लोभ था, न इनाम का न वाहवाही का। वस्तुतः उनके मन में लोभ कहाँ ? वह तो स्वयं रतन थे, उन्हें तो अपूर्व धन मिल गया था ''पायो जी मैंने रामरतन धन पायो'' चाहे दुर्भिक्ष पड़े, चाहे बिना खाये प्राण निकल जाये पर परायी मोहरें उनके लिए मिट्टी के ठीकरों से अधिक मूल्य नहीं रखती थीं।

जन सम्पर्क से विरक्ति

वैसे तो रतनसिंह का स्वभाव बड़ा स्नेह–पूर्ण था, उनके ओठों पर मुस्कान के फूल सदा बिखरते रहते। जिससे भी मिलते, बड़े प्रेम से मिलते, इसमें तनिक भी शिष्टाचार जैसी बनावट की कोई गुंजाइश नहीं थी, फिर भी इनका हृदय सबसे घुलता–मिलता नहीं था, सबमें रहते हुए भी सबसे अलग रहते थे। किसी के पास बैठना–उठना, गपशप लड़ाना तथा ग्राम के प्रपंचों में पड़ना इन्हें तनिक भी पसंद न था, वे एकान्त–प्रिय थे। उनका मकान गाँव से बाहर बिलकुल अलग था। उसी में माता और पुत्र दोनों रहते थे। उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं रहता था कि गाँव में कहां क्या हो रहा है। वैसे तो गाँव से अलग रहने में उनकी एकान्त–प्रियता ही प्रधान कारण थी, पर इसमें दैवी घटना ने भी सहायता पहुँचायी थी। भक्त वत्सल भगवान तो अपने भक्तों के लिए अन्दर ही अन्दर कृपा का ताना–बाना पूरते रहते हैं,

जरारे गाँव गये। माता ने बोहरे से प्रार्थना की कि रतना को आप अपने किसी काम पर रख लें, बोहरे ने उन्हें रख लिया। चार रुपया महीना देते, रोटी कपड़ा देते। उस समय इनकी अवस्था लगभग पन्द्रह साल की थी, परन्तु उनका हृदय वृद्धों जैसा गंभीर था, स्वभाव बालकों जैसा सरल एव भोला तथा योगियों जैसा निर्दोष था। शील गुण के अवतार थे। सेठ का काम करते समय यदि कोई इनको गाली भी दे देता, बुरा–भला कह देता तो ये न तो उसे उत्तर देते और न उसकी शिकायत बोहरे से करते थे। दुबला–पतला इकहरा शरीर, सफेद कुरता, सफेद साफा, मुख पर दुध–सी उजली मुस्कान बस यही उनका रूप और वेश था। इतनी अवस्था में ही इतनी सच्चाई, इतनी ईमानदारी देवीराम बोहरे ने अपने शुद्ध व्यावसायिक जीवन में सर्वप्रथम देखी अतः उस जैसा व्यावहारिक व्यक्ति भी रतना से असामान्य गुणों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। दो वर्ष पश्चात् ही उसने इनके प्रति नौकर की भावना का परित्याग कर दिया। उन पर कार्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा। जो काम रतना के मनोनुकूल होता, उसे सौंपते पर रतना अपने काम में बड़े चौकस थे, तब इनका काम, राम से अलग कैसे, करता ? वे गाड़ी हांकते तो पहले गाड़ी जोत कर उसकी प्रदक्षिणा करते, बैलों के पैर छूते, तब गाड़ी चलाते थे। अधिकतर नूराबाद से मुरैना या नूराबाद से लश्कर गाड़ी ले जाते थे। रास्ते में यदि कोई बूढ़ा–टेढ़ा पैदल जाते मिल जाता तो कहते–अरे बाबा कहां जा रहे हो। यदि वह अपना स्थान गाड़ी के रास्ते में ही बताता तो उसे गाड़ी में बिठा लेते थे।

कभी ये खेत जोतते। एक बार की बात है, देवीराम बोहरे का खेत जोत रहे थे, उसमें झरबेरियां बहुत थीं, पैरों में कांटे चुभते थे, देवीराम ने इन्हें जूते पहना दिये दूसरे दिन इन्हें नंगे पैरों देखकर बोहरे ने पूछा– जूता कहां गया ? रतना ने नीची निगाह करके कहा–

''एक किसान के पास जूते नहीं थे वह दो घण्टे को मांग ले गया। पर फिर वह लौट कर देने नहीं आया। तो तुम क्या पहनोगे ? ''देवीराम के इस प्रश्न के उत्तर में कहा–'दद्दू मुझे जरूरत नहीं है, मेरे पैर तो बहुत मजबूत हो गये हैं।' ऐसी घटना कभी कपड़ों के बारे में, कभी जूता के सम्बन्ध में बराबर होती रहती थी। देवीराम बोहरा। इनकी बस एक इसी आदत से परेशान होता था कि इनके पास कोई वस्तु टिकने नहीं पाती थी, कभी किसी को दे देते तो कभी किसी को। वह ऊपर से इन पर झुंझलाता पर अन्दर से इन पर श्रद्धा करता था। वही क्या, जितने लोग इनके सम्पर्क में आये सब इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। यह स्वाभाविक ही था, जिनके मन में राम रमे हैं उनका प्रकाश अनेक गुणों के रूप में बाहर फूटता हैं और लोग उस ओर पतंगों की तरह आकृष्ट होने लगते हैं।

श्री सिद्धबाबा महाराज

(संक्षिप्त संस्मरण)

सन्त सरोवर ब्रह्मजल निगम कलश हैं चार।
कह कबीर वा नीर के पण्डित सब पनिहार॥

आदि, मध्य, अन्त से रहित हैं प्रभु। अतः उनकी प्रभुता अनिर्वचनीय है। इसका यत्किंचित परिचय उनके प्यारे सन्त–भक्तों के चरित्र से ही मिलता है।

सन्त भगवन्त में कोई अन्तर नहीं होता है। परन्तु श्रीमुख से स्वयं प्रभु कहते हैं।

'मोते सन्त अधिक कह लेखा।'

इसलिए अपने से सन्त का मिलना दुर्लभ बतलाया। सन्त पलटूदास की वाणी में आता है–

राम का मिलना सहज है सन्त का मिलना दूर।
पलटू सन्त मिले बिना राम ते परे न पूर॥
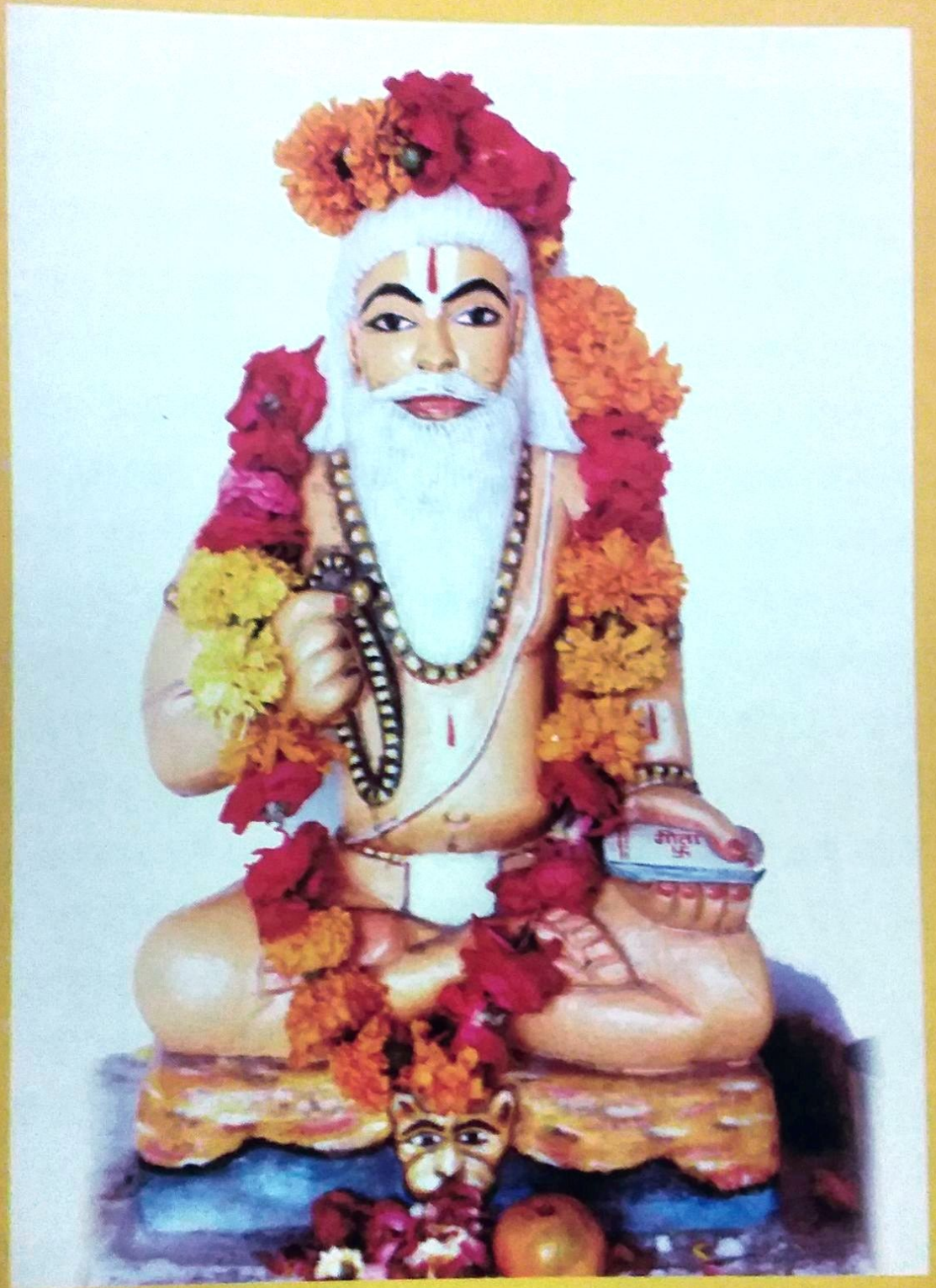
श्री पूज्य सिद्धबाबा महाराज

सिद्ध–स्थल करह पर आसपास की जनता का सिद्ध बाबा के प्रति विश्वास, प्रेम अटूट है। अगाध है। उनके विषय में अरसठ वर्ष हुए धनेला गाँव में एक भीखमदास जी महात्मा थे। उनके फूफा एवं फूफी वयोवृद्ध सरल हृदय के भगवद् भक्त थे। भगवन्नाम जापक। कोई भी दुःखी मैया अपने बालकों को लेकर आती थीं, तो वे एक कटोरी में जल लेकर ऊँगली घुमाकर सीताराम कह कर देती थीं। कष्ट दूर होता था। बड़ा प्रभाव था। फूफा अस्सी–पिच्चासी वर्ष के रहे होंगे। करह के जंगल में लकड़ी लेने आया करते थे। प्यास लगी सरयू पर जल पीने आये। एक विचित्र महात्मा सफेद जटा, सफेद दाढ़ी। उम्र पाँच या छह वर्ष। हाथ जोड़कर प्रणाम किया। पूछा–बाबा आप कौन हैं? बोले 'हम सिद्ध बाबा है।' 'कहाँ रहते हो ? हमें भी अपने स्थान के दर्शन करा दो।' चल उनके पीछे–पीछे गया। एक शिला उठाकर बोले–चल नीचे। नीचे जाकर देखा आसन बिछा है। मृगछाला बिछी है। धूनी लगी है। चमीटा गड़ा है। एक तलैया में पानी भरा है। उन्होंने कहा– सरयू कुण्ड में जल यहीं से जाता है। भोले–भाले थे। फिर कहा–अच्छा–दर्शन करा दिया– किसी को कहना मत ! अब जाओ ! बाहर कर गये। फिर पता नहीं लगा– कहाँ, किधर चले गये। हमारे राम से चर्चा चलने पर उन्हीं ने यह सिद्धबाबा की बात सुनाई।

श्री महाराज जी एवं सिद्धबाबा का हृदय अभिन्न था। परस्पर उनकी लीला विचित्र थी। श्री महाराज जी को जब कोई विशेष काम होता, या बुलाना होता तो सिद्धबाबा सर्प के रूप में दर्शन देते। और इतने लम्बे और विशाल कि उनके भय से हम भागे चले जा रहे हैं। मीलों भागते। थक जाते। फिर मन में आता करह पर गुरु महाराज के यहाँ चलें। फिर जागृत अवस्था में सब समझ लेते। स्थान पर आ जाते। महाराज जी कहते–भैय्या ! भण्डारा रुका है। उसे करो। बहुत बार श्री महाराज इसी प्रकार बुलाते थे। सर्प के रूप में दर्शन हुआ

सुबह चले आते थे। कथा में कई बार हमारे राम के साथ भी, आसन लगाये सर्प रूप से आ जाते। विदा बोलते ही चले जाते।

कई बार बड़ के वृक्ष पर सात-सात दिन लटके रहते थे। महाराज जी कहते-अबकी बार कन्हैया जू की अष्टमी उत्सव हलका हुआ। कभी-कभी शंकर जी के पीछे १५-१५ दिन बैठे रहे। महाराज जी उनकी बातें होती थीं। उत्सव के लिए रुपया-पैसा यह तो महाराज जी के संकल्प मात्र से आ जाता। स्वयं सिद्ध थे। अपने आप सब काम सम्हालते थे। कभी-कभी सिंह के रूप में सिद्ध बाबा लीला करते थे। कई बार महाराज जी की माता जी कुछ बनाकर लातीं। एक बार पटिया पर महाराज जी तो थे नहीं, शेर बैठा था, माता को देखा-थोड़ी गर्जना की। गिर पड़ी। तब महाराज जी ने कहा-डरो मत। कोई नहीं है। पर तुम आया मत करो। तब उनका आना बन्द हुआ। दिव्य जीवन में यत्र-तत्र भी सिद्ध बाबा की चर्चा आई है।

पूज्य श्री महाराज श्री से,
दिनांक ४ जुलाई १९८६ शनिवार
डॉ. राधारमण शर्मा

तपसी जी महाराज से भेंट

दर्शध्यानसंस्पर्शैर्मत्स्यी कूर्मी च पक्षिणी
शिशुं पालयते नित्यं तथा सज्जन-संगड़तिः।

अर्थ- ''मछली दर्शन से, कछुयी ध्यान से और पक्षिणी स्पर्श से अपने शिशु का पोषण करती है, इसी प्रकार सज्जनों की संगति भी दर्शन, ध्यान और स्पर्शमात्र से ही लोक का मंगल करती है।''

नूराबाद के सीताराम मंदिर में एक तपसी बाबा महाराज रहते थे। यथा नाम तथा गुण, के अनुसार वे सच्चे अर्थों में तपस्वी थे। गोपालघाट गोकुल स्थान के परमसिद्ध अनन्त श्री भगवानदास जी
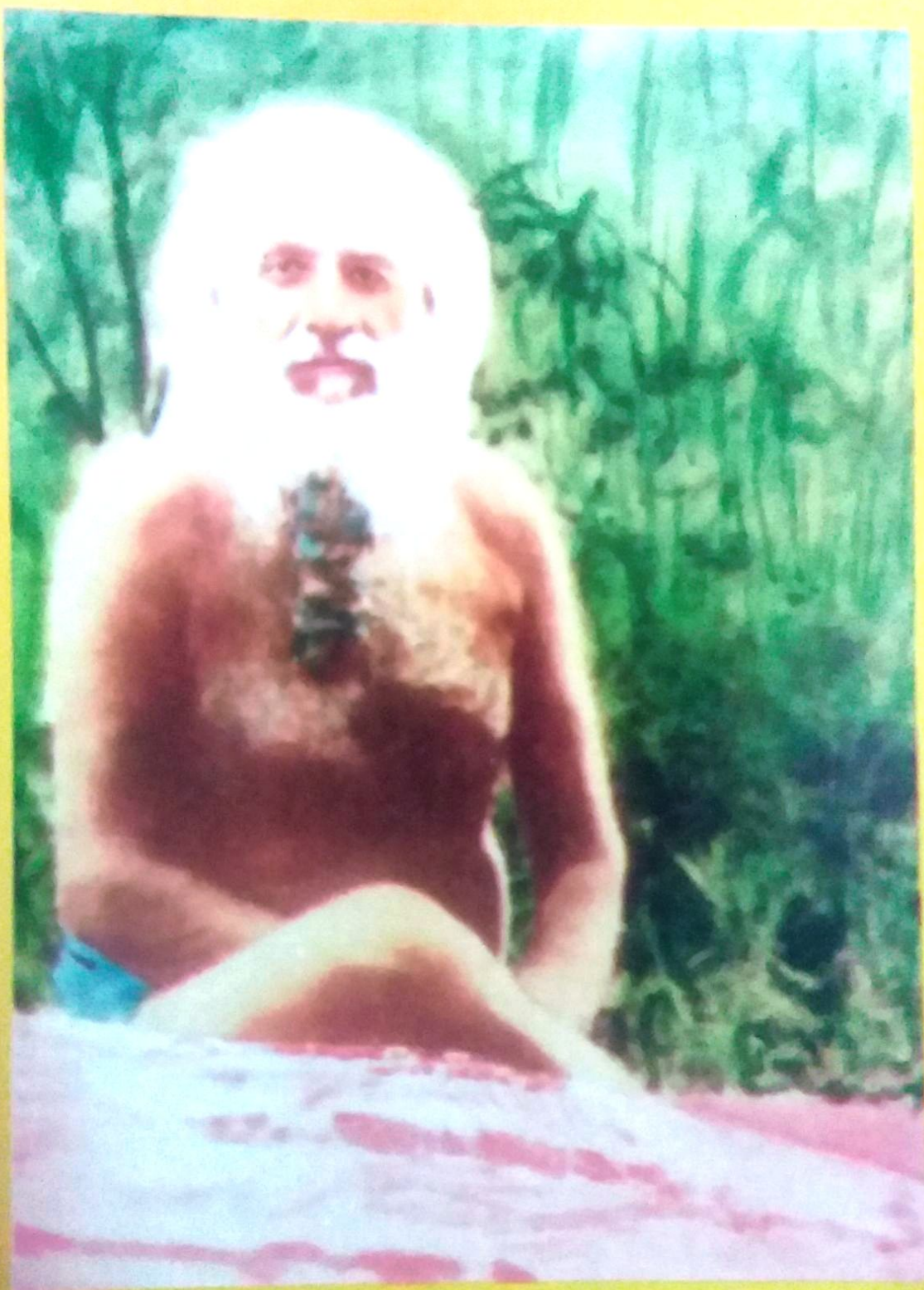
श्री पूज्य तपसी जी महाराज

महाराज के शिष्य थे। पहले उन्होंने ''शनीचरा'' पर्वत पर स्थित 'एती' ग्राम की ओर जाने वाले मार्ग के एक कुण्ड पर तीन वर्ष तक भगवद् भजन किया, एक बार उन्होंने भण्डारा किया, थोड़े से सामान में ही सहस्त्रों नर–नारी प्रसाद पा गये, फिर भी समाप्त न हुआ इनके इस चमत्कार से 'शनीचरा' स्थान के महन्त ईर्ष्यालु हो गये तो उस स्थान को छोड़कर तपसी जी महाराज नूराबाद चले आये। वहाँ एक गुफा में रहने लगे, गुफा के द्वार पर कण्डे जला देते और स्वयं गुफा के अंदर बैठकर घनघोर धुआं में तप करते रहते, इस प्रकार ४० वर्ष तक लगातार तपोनिरत रहे। सीताराम मंदिर तथा नरसिंह मंदिर का निर्माण कराया, 'हनुमान गढ़ी' की नीव डाली। उनका शरीर बड़ा विशाल एवं उनका रूप बड़ा भव्य था, वाणी मेघ–गंभीर थी, जब वे मंदिर में अकेले कीर्तन करते तो ऐसा प्रतीत होता था मानों कई लोग मिलकर बोल रहे हैं।'

हमारे चरित्र नायक तपसी जी महाराज के पास रात्रि में जाते, किवाड़ों की आहट पाकर वे पूछते–कौन है ?

''मैं हूँ रतना, महाराज जी''

''अरे रतना, रतन हो जायेगा, रतन''

आशीर्वादात्मक ये वचन वे सदा कहते और रतनसिंह झुककर रह जाते। रात्रि में चरण दबाते। जब तपसीजी महाराज बहुत कहते तब शयन करने जाते थे। इनके भोलेपन पर तपसीजी महाराज अत्यन्त प्रसन्न थे। सन्तों की प्रसन्नता अमूल्य होती है। भगवान की कृपा का फल सन्त–दर्शन है, सन्त–दर्शनों का फल प्रभु की प्राप्ति है, परन्तु अनुराग की प्राप्ति, प्रभु–प्राप्ति से भी दुर्लभ है। उसके दुर्लभ अंकुर सन्तों की प्रसन्नता में उगते हैं। अतः भक्ति–पथ के पथिकों की प्रथम आराधना सन्तों की ही होती है–

प्रथम भगति सन्तन कर संगा।

अनुराग का उदय

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पाति-दर्शनात्,
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः।

–रघुवंश

अर्थ– ''सम्पाति के द्वारा सीताजी का समाचार पाकर श्री हनुमान जी ने समुद्र को वैसे ही पार किया जैसे ममताहीन पुरुष संसार को पार करता है।''

सूर्य धरती से करोड़ों कोस दूर रहता है परन्तु जैसे धरती का निर्मल जल, स्फटिक मणि तथा दर्पण इतने दूरवर्ती सूर्य को अपने पास खींच लेते हैं– उसकी तेजस्विनी मूर्ति को अपने हृदय में प्रतिबिम्बित कर लेते हैं वैसे ही निर्मल हृदय सन्त, योगियों के ध्यान से भी परे उस परमात्मा को अपने अन्तस में बसा लेते हैं। जिनका हृदय उस ईश्वरीय दिव्य छवि से छक जाता है उन सन्तों का संग भी संगी को छका देता है :–

दो.–

आप छके नयना छके, छके अधर मुसकाइ।
छकी दृष्टि जा पर पड़े, रोम-रोम छकि जाइ।

इसलिए सन्त– संग, भगवद् अनुराग का मूल है, सच्चे स्नेह का जन्मदाता है।

रतनसिंह के ऊपर तो भगवान की कृपा आरंभ से ही थी। इसलिए हम उन्हें जन्म–सिद्ध ही मानते हैं। कच्ची उम्र में भी सच्चा रंग उन्हीं में देखा। अष्टांग योग की जिन कठिन साधनाओं के पश्चात् योगी जिस अवस्था का अनुभव करता है, उनमें उन अवस्थाओं का दर्शन, गायें चराने और गाड़ी हांकने में ही होने लगा। अनेक दिव्य गुणों ने अपना विकास करने का इन्हें आश्रय बना लिया। पर अनुराग की गंगा, राम के अगाध–रूप सिन्धु की ओर तब अधिक तीव्र गति से बढ़ती है जब उसमें अखण्ड झरने आ–आकर मिलने लगते हैं। प्रभु के

प्रति उत्कट अनुरक्ति और संसार के प्रति तीव्र विरक्ति बढ़ जाती है। तपसी बाबा महाराज के सम्पर्क के कारण रतनसिंह का रामानुराग उद्‌बुद्ध हो गया।

इसी समय नूराबाद में एक रामलीला करने वाली, सोहनलाल की मण्डली आई। पुराने लोगों का कहना है कि इतने भाव पूर्ण ढंग से रामलीला करने वाली कोई मण्डली नहीं आई। नूराबाद में जटाधारी बाबा के मंदिर के समीप लीला शुरू हुई। रतनसिंह दिन में देवीराम बोहरे का काम करते, रात में रामलीला देखते थे। रामलीला में सबसे अलग बैठते थे। करूणा के प्रसंगों में उनकी आँखों से आंसुओं की झड़ी लग जाती थी। एक बार लीला में सेतुबन्ध–रामेश्वर का प्रसंग आया। रामलीला वालों ने एक थाली को ठीक बीच में बिलकुल गोल–गोल काटा। उसे एक स्वरूप के गले में पहनाकर बालक को मंच पर इस प्रकार खड़ा किया कि स्वरूप का केवल गले से लेकर मुख–ही–मुख दिखाई देता था। शंकर जी की सुन्दर झांकी बनाई थी।

देखने वालों को ऐसा लगा मानों साक्षात् शिवजी प्रकट हो गये हैं। श्रीरामचन्द्र जी ने उनका पूजन किया और वानर–सेना समुद्र पार हुई। हमारे चरित्रनायक इतने भाव–विभोर हुए कि वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े, जब चेत हुआ तो पुकार उठे– 'हे राम जी महाराज ! मुझे भी सागर से पार करो, हा'! 'राम तुम कब मिलोगे' यह कहते–कहते बिलखने लगे, उस दिन सारी रात उन्हें नींद न आई।

मण्डली लीला करके चली गयी। उसके पश्चात् जहाँ कहीं रामलीला होती, पहुँच जाते, ६–६ कोस तक दर्शनार्थ जाते थे। इस प्रकार रामलीला के करुण प्रसंगों ने इनके स्नेह–स्त्रोत को जगा दिया और वह चिरसंनिरुद्ध जल–स्त्रोत की तरह मार्ग पाकर आकुलता बनकर फूट पड़ा। रामलीला देखकर आते तो रात्रि में घण्टों बैठे–बैठे आंसुओं के जल से प्रेम–बेलि को सींचा करते थे। उनके स्नेहाकुल प्राण ऐसे बरसते थे जैसे ग्रीष्म का सन्ताप सावन की घन–घटा बनके बरसते हैं।

अनुराग की वृद्धि

सतॉं प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायना: कथा:
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्ति रनुक्रमिष्यति।

—भाग. ३/२५

अर्थ— ''भगवान कहते हैं, सत्पुरुषों के संग से मेरी कथाएँ हृदय और कानों के लिए रसायन बन जाती हैं, उनके सेवन से शीघ्र ही अपवर्ग—मार्ग के प्रति क्रम से श्रद्धा रति तथा भक्ति का आविर्भाव होता है।''

रतनसिंह की अवस्था अब २० वर्ष की थी। तन से तारुण्य झाँकने लगा था। यौवन आता है तो साथ में उमंग, उत्साह, लगन एवं मादकता का मेल लिये आता है, रतना ने केवल एक बार आने वाले यौवन—अतिथि का सत्कार, एक अद्वितीय प्रेम—रस का प्याला पिला के किया।

वे अब जहाँ कहीं सत्संग सुन पाते, अवश्य पहुँचते। उन दिनों सांक—स्टेशन पर एक स्टेशन मास्टर थे। बीकेन बाबू। नाम कुछ ऐसा ही था, लोग उन्हें दक्षिणात्य बताते हैं पर स्वभावत: वे सर्वदेशीय थे, सपत्नीक थे बड़े अलमस्त जीव थे वह। उस मस्ती में विजय का चस्का चार चांद लगा देता था, फिर क्या कहना— 'जहां भंग का रंग, वहां मित्रों का संग' तो जमने ही लगता है, अत: उनका गोष्ठी—प्रिय होना भी स्वाभाविक ही था, पर वे साधु—सन्तों के बड़े प्रेमी थें। मित्रों को तथा साधुओं को खिलाने—पिलाने में उदार हृदय एवं मुक्त—हस्त थे, आधी रात के समय भी कोई पहुँच जाये तो उनकी पत्नी उसी समय कढ़ाई चढ़ा देती थीं। बीकेन बाबू का एक दैनिक नियम था, वह अपने कार्य से छुट्टी पाकर रात में दो घण्टे रामायण की कथा कहते थे। कथा सुनने हमारे रतना भी पहुँचते थे कई बार इनसे भंग पीने का आग्रह

किया गया, पर इन्होंने कभी नहीं पी। वस्तुतः इन्हें पीने की आवश्यकता ही क्या थी। इन्होंने तो एक ऐसा नशा पी रखा था। जो कभी उतरना तो जानता ही नहीं था अपितु अधिक–अधिक चढ़ता ही रहता था।

'प्रतिक्षणं वर्धमानम्'

बीकेन बाबू रामायण का अर्थ तो सीधा–सादा करते थे किन्तु चौपाईयों की कहन उनकी बड़ी आकर्षक थी उस पर भी हृदय–स्पर्शी थी उनकी भावमयी मुद्रा। यों तो भगवान् के चरित्र स्वतः मधुर होते हैं–इतने मधुर कि जितनी मधुरता से कोई कह नहीं सकता, फिर भी वक्ता की अपनी विशेषता होती है, भागवतकार का कथन है :–

निर्वत्ततर्षैरूपगीयमानाद् भवौषधाच्छोत्रमनोभिरामात्
कः उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत बिना पशुघ्नात्।

''विषयाभिलाषा से रहित महापुरुषों के द्वारा गाये गये, उत्तम कीर्ति भगवान् के गुणानुवाद संसार की औषध होते हैं, कर्ण–प्रिय एवं हृदयग्राही होते हैं। हिंसक पुरुष के सिवा और ऐसा कौन होगा जो उनसे विरक्त होगा ?''

बीकेन बाबू के सम्बन्ध में तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वे भक्त थे, निर्लोभ थे। उनके द्वारा वर्णित रामकथा का हमारे चरित्रनायक पर बहुत प्रभाव पड़ा।

भाव समाधि

एक दिन बीकेन बाबू सीता हरण का प्रसंग कह रहे थे। जगदम्बा श्री जानकी का हरण कर रावण आकाश मार्ग से ले जाने लगा, तीनों लोकों की स्वामिनी विलाप कर रही थीं, पक्षिराज जटायु ने रावण को ललकारा पर वृद्ध गृध्रराज उससे अधिक न लड़ सका, वह उसके हाथों धराशायी हो गया, वैदेही वल्लभ प्रिया–विरह में– ''पूछत चले लता तरु पाती''। इसे सुनते ही रतना बिहल हो गये, मूर्च्छित होकर

पृथ्वी पर गिर पड़ें। नेत्रों से अश्रु धारा बह चली, लोगों न दौड़कर उठाया, पंखा किया, मुख पर ठण्डे जल के छींटे छोड़े, किन्तु उनकी भाव समाधि भंग न हुई। घण्टों यही दशा रही। बीकेन बाबू ने दो आदमी भेजे। वे श्री रतनसिंह को मूर्च्छित दशा में ही पीठ पर धर के जरारे गाँव ले गये। लगभग ४८ घण्टे तक मुर्च्छित अवस्था में रहे। माता विजयकुँवरि विलाप करने लगीं कि सहसा श्री रतनसिंह के नेत्र खुले कुछ खोये–खोये से, कुछ ढूँढ़ते हुए से। स्नेहाकुल एवं विरह विह्वल हो ये करुण पुकार करने लगे ''हे रघुनाथ जी महाराज ! तुम कहाँ गये ? हे राम ! मुझे कहाँ छोड़ गये, मुझे भी ले चलो।'' प्रभु के लिये उनका यह करुणा–क्रन्दन बड़ी देर तक चलता रहा। नेत्र लाल हो गये, लम्बी–लम्बी साँसें ले रहे थे। कुछ लोग वहाँ समझदार भी थे। वे उन्हें धैर्य देने लगे– ''अरे रतना ! भगवान कहीं चले थोड़े ही गये हैं ? वे फिर दर्शन देंगे, उन्हें खोजोगे तो पाओंगे'' यह बात जैसे उनके अन्तः को छू गयी– ''वे खोजने से मिलेंगे।'' बात सच्ची थी।

दो.–

जिन खोजा तिन पाइयां निर्भय राम जरूर।
आज नहीं तो कल सही चिन्ता को कर दूर॥

तीर्थ यात्रा

संसार-मरु कान्तार-निस्तार करण क्षमौ
श्लाघ्योतावेच चरणौ यौ हरे स्तीर्थगामिनौ।

–हरि भक्ति रसामृतसिन्धु

अर्थ– ''संसार रूपी मरुस्थल के वन प्रदेश से पार करने में समर्थ वे ही चरण प्रशंसनीय हैं जो प्रभु के तीर्थों में जाते हैं।''

श्री रतनसिंह का मन अब घर में न लगा। वे चुपचाप चल पड़े तीर्थों की ओर। तीर्थ प्रभु के धाम जो ठहरे ! वैसे तो नाम, रूप, लीला

और धाम चारों ही नित्य हैं, दिव्य हैं तथा चारों ही भक्तों के जीवनअधार हैं। पर धाम के बिना राम के दर्शन कहाँ ? धाम में ही तो रूप मिल सकता है और रूप की झलक मिलने पर ही तो उनके नाम में अनुराग तथा लीला में अधिकार प्राप्त होता है। वस्तुतः दीर्घ दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमारे तीर्थ स्थल एक अद्वितीय परमात्मा की एकता के दर्शन अनन्तकाल से करा रहे हैं। वैसे तो मनुष्य एक सीमित प्रदेश में, एक प्रकार की भाषा, एक प्रकार की वेशभूषा तथा एक प्रकार की जलवायु में रहते–रहते उसी को सत्य एवं उसी को अपनी ममता का केन्द्र मान लेता है। संसार सीमित हो जाता है। उसके विचार और मान्यताएँ सीमित हो जाती हैं। तीर्थ इन संकीर्ण घेरों को तोड़ देते हैं। वहाँ विविध भाषाओं के बोलने वाले, विविध विचित्र वेशभूषा को धारण करने वाले अनेक जातियों के लोग अनेक आचार–विचार के लोग, अनेक प्रान्तों और स्थानों के लोग एकत्र होते हैं। इससे तीर्थों में विश्वरूप रघुवंशमणि का अच्छा–सा दर्शनीय नमूना उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार एक प्रदेश की एक ही नदी, एक ही तालाब एक ही प्रकार के वृक्ष, वनस्पति देखते–देखते, उस प्रदेश के प्रति, उस भू–भाग के प्रति मनुष्यों के मन में ममता का अटूट आग्रह बस जाता है। वह तीर्थों में ही ढलता है। वहाँ कहीं लहलहाते विस्तृत वन खण्ड, ऊँचे–ऊँचे पर्वत, बहती हुई तीव्र गमिनी नदियाँ हैं, तो कहीं उज्वल हिमधारा हैं तो कहीं उष्ण जल के दहकते झरने ! अनन्त आकाश के नीचे प्रकृति के इतने उन्मुक्त रूप देखने को मिलते हैं जिनसे कि हमारे सम्मुख विराट् पुरुष का रूप खड़ा हो जाता है। उस विराट् रूप के प्रति हमारे मन में ममता जागती है। मानवता के विविध रुपों के प्रति अपनेपन के भाव हृदय की संकीर्णता को दूर कर देते हैं। वे अनेक तीर्थ एक प्रभु से सम्बन्ध रखते हैं। अनन्त जन–समूह एक प्रभु के भक्त होते हैं। अतः 'एकोऽहं बहुस्याम्' देववाक्य का मूर्तिमान्

अर्थ तीर्थों में ही खुलता है। इसलिए हमने कहा है कि तीर्थ भगवान् के धाम हैं। वहाँ प्रभु का रूप देखने को मिलता है। विशेषतः जो साधु-सन्त हैं या उस मार्ग पर चलना चाहते हैं उनके लिए तीर्थ उनके विश्वास की कसौटी होते हैं। उनकी सहनशीलता, कष्टसहिष्णुता के परीक्षक होते हैं। भला, राम रंग में रंगे रतना उस मार्ग पर क्यों न बढ़ते ? उन्होंने बद्रीनाथ धाम की यात्रा की।

मार्ग में एक वैष्णव महात्मा मिले उनके साथ बद्रीनाथ धाम की ओर चल पड़े। उनके पास ६ रुपये थे जिन्हें उन महात्मा ने इनसे माँग लिया। मार्ग में उनके चरण दबाते, उनकी बड़ी सेवा करते थे और अन्त में सबसे रामनाम में प्रेम माँगते। मार्ग में किसी यात्री का हाथ पकड़ कर उसे कठिन मार्ग से पार कराते, तो किसी थके यात्री की गठरी उठाकर उसे 'चट्टी' तक पहुँचाते। एक बुढ़िया मिली। उसके पैरों में छाले पड़ गये थे। पास में इतना पैसा न था कि किसी सवारी का प्रबन्ध कर सके, अतः वह दुःखी होकर लौटने लगी तो हमारे चरित्र नायक उसे समझाने लगे- 'मैया तू इतनी दूर आ गयी है। अब आधी दूर से क्यों लौटती है ? ला, तेरा सब सामान मैं ले चलता हूँ' यह कहकर उसका सब सामान अपनी पीठ पर धर लिया और उसे हाथ से सहारा देते हुए ले गये। बूढ़ी मैया बड़ी गद्गद् हुईं। प्यार से कहने लगीं- ''बेटा जीओ तुम्हारी बड़ी उम्र हो।'' इन्होंने हाथ जोड़कर कहा- ''मैया मुझे तो तू राम नाम में प्रेम बढ़ने का आशीर्वाद दे। उम्र बढ़ने का आशीर्वाद मत दे।'' बूढ़ी मैया बड़े आश्चर्य से इनका मुख देखती रह गईं ! इस प्रकार हरिद्वार से लेकर बद्रीनाथ धाम तक रतनसिंह ने कहीं बीमारों की सेवा की, कभी संत ब्राह्मणों के चरण दबाये कभी असमर्थ लोगों को सहारा दिया तो कभी बूढ़े-टेढ़े लोगों का सामान अपने सिर पर रखकर ढोया। पूज्य परम गुरुदेव ने इस यात्रा की चर्चा करते हुए एक बार कहा था। ''भैया, तीर्थ यात्रा में

मुझको तो सबसे बड़ा लाभ यही मिला कि दीन, हीन, असमर्थ, रोगी जो भगवान् के दर्शन करने जा रहे थे उनकी सेवा करने का अवसर मिल गया।''

जब रतनसिंह बद्रीनाथ धाम पहुँचे तो इनके मन में श्री बद्री नारायण भगवान् के चरणों में कुछ द्रव्य समर्पित करने की कामना हुई। पर इनके पास था ही क्या ? जो इनके पास छह रुपये थे उनको एक साधु ने ले लिया था। हाँ, इनकी अँगुली में एक चाँदी का लपेटा (छल्ला) था। इन्होंने उसी को भगवान् के चरणों में समर्पित कर दिया। लक्ष्मी को भगवान् की सेवा में सौंपकर जीवन भर के लिए विरक्त हो गये। अब इनके पास एक भी पैसा नहीं था। पर भगवान तो विश्वंभर थे। अपने भक्त की उपेक्षा क्यों करते ? रतनसिंह बद्रीनारायण की यात्रा समाप्त कर लौट पड़े। हरिद्वार में आये, दोपहर हो गयी थी, भूख बहुत लगी थी। किसी ने बता दिया तो काली कमली वाले बाबा के क्षेत्र में चले गए। वहाँ केवल हल्की २–२ रोटियाँ मिलती थीं। इन्हें भी मिली पर तृप्ति नहीं हुई तो दुबारा माँगने फिर पहुँचे। रोटी बाँटने वाले ने व्यंग्य करते हुए कहा ''साधु होकर दुबारा रोटी माँगते हो !'' जब सबको २–२ रोटियाँ दी जा रही हैं तो तुम्हें अधिक कैसे दे दें ? रतनसिंह के जी के मन में बड़ी चोट लगी। इस चोट ने प्रभु की ओर बढ़ने के लिए एक सीढ़ी और बना दी। उन्होंने मन में दृढ़ संकल्प किया कि भविष्य में किसी से हम कोई वस्तु न माँगेंगे। इस संकल्प का उन्होंने आजीवन पूर्ण निर्वाह किया। श्री रतनसिंह तीर्थ यात्रा करके घर लौट आये। दुबारा माता को लेकर रामेश्वर धाम की यात्रा की। यात्रा से लौटकर वे दिन भर रामनाम लेते रहते, कभी–कभी तो नाम लेते–लेते रो पड़ते थे। माता इनकी दशा से बहुत चिंतित थीं पर रतनसिंह अधिक निश्चिन्त होकर एकान्त–प्रिय होने लगे।

टेकरी पर

भोगो रोगो विषं वेश्म सर्प-बंधाश्च बान्धवाः
दग्धारण्यं जगत्सर्वं वियोगाविष्टचेतसाम्।

—क्षेमेन्द्र

अर्थ— ''प्रभु—वियोगियों के लिए भोग रोग लगते हैं। वेश्म (भवन) विष और बान्धव सर्प—बन्धन जैसे लगते हैं सारा विश्व जलते हुए अरण्य के तुल्य हो जाता है।''

संसार में प्रतिदिन अनंत घटनायें, अनन्त बातें होती हैं पर उनसे शिक्षा ग्रहण करने वाला, एक निश्चित परिणाम पर पहुँचने वाला दुनिया में कोई विरला ही होता है। अन्य सब तो उस निर्लज्ज बालक की तरह हैं जिसे विद्यालय में अध्यापक प्रतिदिन ताड़ना देता है पर वह अपना पाठ याद नहीं करता या कई बार ठोकर लग जाने पर भी सँभल कर नहीं चलता है। इसके लिए कुछ ईश्वरीय, आदर्श उपस्थित होते हैं जिनको देखकर दूसरे प्रेरणा लेते हैं। हमारे पूज्य नायक भी विरले ईश्वरीय आदर्श थे। सम्वत् १९७५ की घटना है। बंधा टूटने के पश्चात् वे ग्राम से अलग मकान में तो रहते थे पर इनका जी और भी एकान्त चाहता था। संयोग की बात थी। आषाढ़ का महीना लगा। गगन के मैदान में बादलों के दल जहाँ—तहाँ डेरा डालने लगे थे। उसी समय एक बहेलियों का दल घूमता—फिरता आया और वह रतनसिंह के मकान के पास ही डेरा डालकर रहने लगा।

उस दल के लोग कस्तूरी—शिलाजीत आदि, वन्य वस्तुएँ बेचते और आसपास पक्षियों को मारते थे। अपने ही मकान के पास ऐसे लोगों को देखकर रतनसिंह को बड़ा दुःख हुआ। वे मन ही मन अपने भगवान् से प्रार्थना करने लगे— ''हे प्रभो ! यह आप कौन—सी लीला कर रहे हैं।'' सहसा इनके मन में प्रभु की प्रेरणा हुई। वे सोचने लगे

कि वास्तव में काल रूपी पारधी का दल प्रत्येक घर के पास अपना डेरा डाले हुए है। जिन–जिन का समय आता जाता है उन्हें वो मार देता है। जो घर के बंधन तोड़कर भगवन् की शरण में चला जायेगा वही बच जायेगा। यह सोचकर घर से चुपचाप निकल गये। माता विजयकुँवरि ने देखा कि ''रतना'' घर नहीं है तो सोचा कि ग्राम गया होगा। साँझ हुई। रात आई। सब लोग अपने–अपने घर लौटे, पर माँ का दुलारा रतन नहीं लौटा। वह सोचने लगी ''कथा वार्ता सुनता होगा, सबेरे तक आ ही जायेगा।'' प्रातः काल हुआ रतनसिंह नहीं आये। माता दौड़ी हुई नूराबाद गईं। देवीराम बौहरे को सूचना दी। यह तो हम बता ही चुके हैं कि वे अब देवीराम के यहाँ नौकरी नहीं करते थे और करते भी क्यों–

हम चाकर रघुनाथ के पटो लिख्यौ दरबार।
तुलसी अब का होंइँगे नर के मनसुबदार॥

देवीराम बेचारे माँ के आग्रह पर अपनी घोड़ी पर बैठकर कई जगह खोजने गये पर 'रतन' न मिले। सहसा कुछ चरवाहों ने सूचना दी कि रतनसिंह बिलकुल समीप की पहाड़ियों पर हैं और बिलकुल साधू बने बैठे हैं। गणमान्य लोग टेकरी पर गए (पहाड़िया को ही लोग टेकरी के नाम से पुकारते हैं) वहाँ भी तो तुम अकेले थे भगवान का भजन वहाँ भी कर सकते हैं ? रतना बोले– ''वहाँ तो पारधियों का दल डेरा डाले रहता है।'' लोगों ने कहा पारधियों के दल को हटा दिया जायेगा। रतना बाबा ने कहा– ''अरे भैया, बरसात के दिन हैं हम कष्ट उठा लेंगे पर अपने आराम के लिए किसी का घर बिगाड़ने को कैसे कहें ? यह ठीक नहीं। अब हम यहीं रहेंगे।'' लोगों ने बहुत कहा। माता भी बहुत रोई–गाई, परन्तु वे घर नहीं लौटे, लौटाने वाले स्वयं लौट आये।

पहाड़ी बहुत ऊँची नहीं है। न हरी भरी है। वृक्ष के नाम पर पूरी पहाड़ी पर एक पीलू का पेड़ है। उसे पेड़ कहना भी व्यर्थ है। वह एक प्रकार का झूँकटा है। मेहंदी के पेड़ की तरह उसकी वड़बार होती है। पीलू की बगल में ही टूटा-फूटा हनुमान जी का मंदिर था। वे बड़े सिद्ध हनुमान माने जाते हैं। हमारे रतनसिंह जी पीलू के नीचे एक पत्थर के टुकड़े पर जा बैठे थे। लोग अब उन्हें 'रतना' कहने में संकोच करते थे। अतः रतना के साथ बाबा पद का प्रयोग करने लगे थे। रतना बाबा उसी पेड़ के नीचे एक पत्थर पर बैठा करते। बरसात के दिनों में सारी-सारी रात, सारे-सारे दिन भीगा करते थे। पत्थर पर बैठे रहने से चमड़ी कड़ी हो गई थी। किसी से कुछ माँगते न थे। माता आकर उनको भोजन दे जातीं। ग्राम के लोगों ने टेकरी पर एक झोंपड़ी डाल दी। पूज्य बाबा महाराज टेकरी पर ११ महीने तक रहे। संवत् १९७५ में भयानक महामारी पड़ी थी। उन दिनों वे टेकरी पर ही थे। चारों ओर जलती चिताओं को देखकर इनका करुणापूर्ण हृदय दुःख से भर गया। इन्हें लगा कि सारा संसार जल रहा है। इनका मन उस समय अपने प्रभु से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। वे दिनभर रोते, रात भर रोते। आँखें सूज गई थीं। बार-बार कहते "हे रघुनाथ जी महाराज, तुम कहाँ हो ?" आखिर एक रात को इनकी विरह-वेदना अधिक बढ़ गई। वे बड़े जोर से रोने लगे और कहने लगे- "हे प्रभो मुझ पर दया करो। हे राम तुम्हारे बिना मेरा रोम-रोम जला जा रहा है, मेरे नाथ ! मुझे चरणों में शरण दो।" हृदय इतना व्याकुल हुआ, प्रभु से मिलन की इतनी चटपटी लगी कि झोंपड़ी में आग लगाली और आँखें बन्द करके झोंपड़ी के अन्दर बैठ गए ! विरहियों के लिए मृत्यु तो उत्सव होती है-

दो.- जा मरिवे सो जग डरे सो मेरे आनंद।
कब मरिहों कब पाइहों पूरन परमानंद॥

महाराज जी भी इसी लगन के विरही थे। झोंपड़े में आग लग गई। फूँस का सूखा झोंपड़ा था। आग फैलते कितनी देर लगती। आग की लपटों ने सारे झोंपड़े को लपेट लिया। दूर तक धुआं और उठी हुई लपटें लोगों ने देखी। बाबा महाराज को विश्वास हो गया कि प्रभु से मिलने में अब देर नहीं है। पर न जाने क्या हुआ अचानक किसी ने बाँह पकड़ के बाहर खींच लिया और कहा। ''धैर्य रखो, करह पर चले जाओ।'' सारा झोंपड़ा जल गया– ''आई मौज फकीर की दिया झोंपड़ा फूँक।'' महाराज जी का एक रोम तक नहीं जला। जलता भी कैसे ?

चौ. ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा,
जरा न सो तिहि कारन गिरिजा॥

और यह इसलिए था कि वे प्रहलाद की तरह रामनाम के अनन्य जापक थे। अग्नि में बैठे प्रहलाद ने अपने पिता से स्पष्ट कहा था–

रामनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।

अर्थ– ''समस्त पापों को शान्त करने के लिए एक मात्र भेषज, रामनाम का जप करने वालों को भय कहाँ ? देखिये पिताजी, मेरे शरीर में यह अग्नि भी जल की तरह शीतल लग रही है।''

शरणापन्न

तद्वः सारस्वतं चक्षुः समुन्मीलतु सर्वदा
यत्र सिद्धाञ्जनायन्ते गुरुपादाब्जरेणवः।

अर्थ– आपके भाल में ज्ञात का वह नेत्र खुले,जिसमें गुरुचरणों की रेणु सिद्धाञ्जन का कार्य करती है।

मानवेतर प्राणियों की योग्यता नियत होती है। उन्हें अपने लिये किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणार्थ तैरने की कला

को ले लीजिये। कोई भी मनुष्य बिना सिखाये तैर नहीं सकता। किन्तु पशु के लिए यह नियम सर्वथा व्यर्थ है। वह बिना शिक्षा के खूब तैर सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने विकास के लिए पथ प्रदर्शन की नितान्त आवश्यकता है। जब लौकिक ज्ञान की यह बात है तो पारलौकिक ज्ञान का कहना ही क्या है ! दादू कहते हैं:–

दो.– इक लख चन्दा आनि घर सूरज कोटि मिलाइ
'दादू' गुरु गोविन्द बिन उर की तिमिर न जाइ।

'जिस ज्ञान को पाकर और कुछ जानने की कामना नहीं रह जाती, वैसा बोध कोई विरला गुरु ही दे सकता है।' कबीर कहते हैं:–

दो.– साधू सीप समुद्र हैं, सत गुरु स्वाती बुन्द,
तृषा गई एक बुन्द सों क्या ले करूँ समुन्द।

पूज्य रतनसिंह के चित्त में राम–मिलन की लालसा दिन रात बढ़ने लगी। उनका जी छटपटाने लगा कि प्रभु कैसे मिलें और कब मिलें ? पर जो गुरू गोविन्द से मिल चुके हैं वही मिलन की राह बता सकते हैं। नूराबाद वाले पूज्य तपसी जी महाराज इसी कोटि के सन्त थे। वैसे उनका नाम श्री सीतारामदास जी था। गोकुल के प्रसिद्ध स्थान 'गोपालघाट' के महन्त परमहंसवर्य अनन्त श्री विभूषित श्री भगवानदास जी महाराज के शिष्य थे। जिन्होंने इस युग में तीन सौ वर्ष की आश्चर्यजनक आयु प्राप्त की थी। उन्हीं के अलौकिक शिष्य थे श्री तपसी बाबा। इन्होंने ११७ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की थी। मृत्यु के पूर्व ही अपने शिष्य एवं अनुयायिओं को सूचित कर दिया था कि हम अमुक समय अमुक स्थान पर शरीर छोड़ेंगे।

सवंत् १९७९ में इसी उद्देश्य से समस्त शिष्य मण्डली को लेकर श्री अयोध्या जी गये। मंदिरों में दर्शन कर श्री सरयू के तट पर पहुँचे। अगहन वदी एकादशी का दिन था। प्रातः काल की जब आरती हो गयी तो भगवान् का चरणामृत लिया। सरयू का जलपान किया और

आसन लगा के बैठ गये। चारों ओर से शिष्यों ने राम नाम की ध्वनि की। पूज्य श्री तपसी जी महाराज ने समाधिस्थ होकर अपने पाञ्चभौतिक कलेवर का परित्याग कर दिया और प्रभु के दिव्यधाम को पधार गये।

हमारे पूज्य चरितनायक ने इन्हीं को अपना गुरु बनाया। संवत् १९७९ में उन्होंने राम मंत्र के साथ नरसिंह मंत्र की दीक्षा दी और आज्ञा दी कि जाकर 'करह' के स्थान पर रहो। तब से इनका नाम 'रामरतनदास' हो गया। 'करह'– कान्तार था तो सिद्धों का स्थल, पर था बड़ा भयानक। वहाँ दिन में भी सिंह, गाय–भैंसों की तरह घूमा करते थे। पूज्य तपसी जी महाराज ने इन्हें समझाया कि 'देखो रामरतनदास वहाँ भजन करो, एक टूटा–फूटा तिवारा है, रात के समय डर लगे तो उस पर चढ़ जाया करना'। पूज्य महाराज जी ने समर्थ गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। वे तो जन्म से ही निर्भय थे फिर गुरु का अभय हस्त पाकर क्यों डरने लगे ? इनके सामने भक्त शिरोमणि प्रहलाद का आदर्श था, जिन्होंने उन नरसिंह भगवान् को अपना आराध्य बनाया था जिनके समीप जाने में साक्षात् लक्ष्मी भी भयभीत हो गयी थीं तब उनके सच्चे अनुयायी श्री रामरतनदास जी महाराज जी को वन में किस का भय ?

करह की झाड़ी में

प्रतिष्ठा सूकरी–विष्ठा गौरवं घोर रौरवम्
अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा हरिं भजेत् ।

अर्थ– ''प्रतिष्ठा सूकर की विष्ठा जैसी घृणास्पद है, गौरव घोर रौरव नरक के तुल्य है। अभिमान सुरापान की तरह बेसुध बनाने वाला है, अतः तीनों को त्यागकर हरि का भजन करना चाहिए।''

अपने शास्त्रों में देश–काल के उचित ज्ञान को बहुत ही महत्व दिया गया है। उचित स्थान तथा उचित काल में किया गया कार्य

अवश्य ही अभीष्टप्रद होता है। वैसे तो ''सवै भूमि गोपाल की है'' उसमें अटक क्या है ? फिर भी कुछ स्थान ऐसे निष्प्रपंच होते हैं जहाँ भगवान की मधुर स्मृति आये बिना नहीं रहती। ऐसे स्थान मानव निर्मित नहीं होते, प्राकृतिक होते हैं। मनुष्य निर्मित स्थान कितना ही एकांत हो– कितना ही भव्य हो, पर उसके साथ निर्माता की स्मृति विजड़ित रहती है, उसकी भावनाएँ अनुस्यूत होती हैं। वे स्मृति और भावनाएँ साधक के अतं:करण को अवश्य प्रभावित करती हैं, परन्तु प्रकृति–प्रदत्त स्थल इस दोष से निर्मुक्त होते हैं, प्रकृति की रचना प्रभु की प्रेरणा से होती है, अत: प्राकृतिक स्थल ईश्वर निर्मित हैं जिन्हें देखकर साधक के ह्रदय में उस प्रभु का स्मरण जाग उठता है, जो विश्व प्रपंच का संचालक है, जो प्रकृति का पुरोहित है और जो एक–एक पत्ते को, एक–एक फल को अपनी कलामय अँगुलियों से ऐसा रूप प्रदान करता है जिसे देखकर आश्चर्य से चकित एवं कृतज्ञता से नत हो जाना पड़ता है। इसीलिए 'रामचरित मानस' में नारद जी की तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा है:–

निरखि सैल सरि विपिन विभागा
भयेउ रमापति पद अनुरागा।

'करह' की झाड़ी भी एक ऐसा ही अद्‌भुत स्थान है। यह स्थान नूराबाद से पश्चिम की ओर तीन मील जंगल में है। दूर–दूर तक सघन वन श्रेणी एवं छोटी–छोटी पर्वत मालाएँ चली गई हैं। यह विन्ध्य पर्वत का ही एक भाग है। करह के आसपास दो–दो मील तक गाँव नहीं हैं। बीच में बारहों महीने बहने वाली छोटी–सी –साँक नदी पड़ती है। स्थान पहाड़ियाँ की हरी–भरी गोद में है। मुख्य आश्रम बरगद और नीम की सघन छाया से शीतल रहता है दो एक झरने भी हैं, वह प्राकृतिक स्थल होने के कारण ही आकर्षक एवं आदरणीय नहीं है वह सिद्ध स्थल है, तपोभूमि है, वहाँ बड़े–बड़े सिद्ध हो गये हैं। उनकी
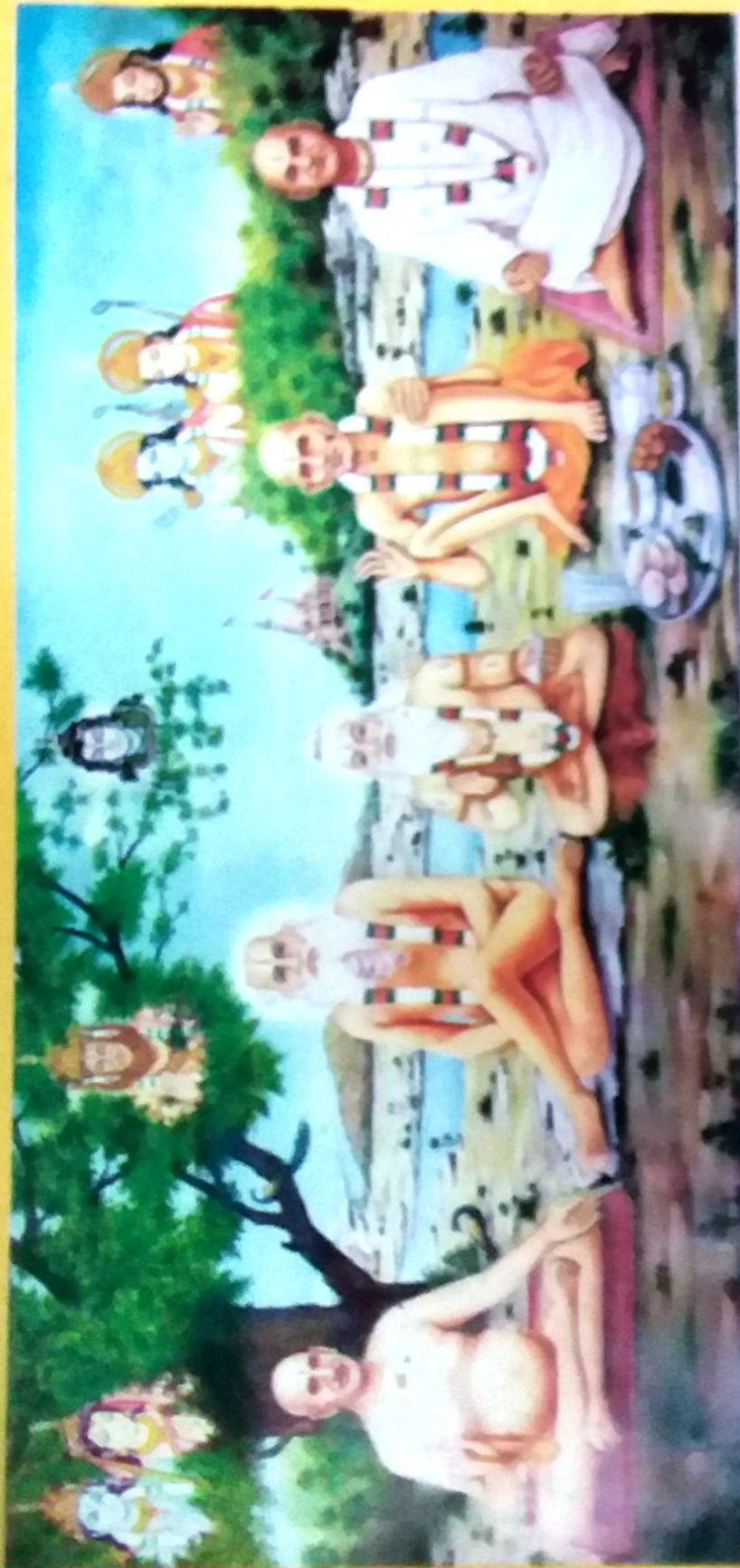
श्री पूज्य करह दरबार करह धाम

अगाध साधना की वह साक्षी देता है, ईश्वर के साक्षात्कार करने की वह प्रयोगशाला है।

उन स्थान का तीन अक्षरों वाला 'करह' नाम वहाँ होने वाले तीन सिद्धों की पवित्र कथा का प्रतीक है। मुख्यतः करह वाले बाबा महाराज के पूर्व जिन सिद्ध महापुरुषों ने वहाँ रहकर सेवा का जो अद्भुत सत्र खोला था उसका स्मारक बन गया है। कहते हैं– धनेले के मंदिर पर एक महात्मा थे चेतनदास। वे बड़े सिद्ध पुरुष माने जाते थे। उनके कई शिष्य थे, जिनमें एक ब्राह्मण का बालक था–रामदास। पर वे उसे 'रमुआ' कहके पुकारते थे। वे गाड़ी हाँकंते–और भी काम–काज करते थे परन्तु गुप्त रूप से साधना में संलग्न रहते। बड़े साहसी साधक थे। वैसे वे बड़े भोले–इतने भोले कि ये गुरुजी के अन्य शिष्यों के साथ जब जाड़े में आग पर तापने बैठते तो दूसरे शिष्य एवं अन्य विनोदी लोग इन्हें गुदगुदा के उठा देते थे। तापने नहीं देते थे। तब रमुआ कहते– 'अरे भाई रामजी की इच्छा से हमें भी ताप लेने दो।' इस पर दूसरे लोग मजाक करते हुए कहते– ''कहीं से बड़ा सिद्ध आया है कि इसे भी तापने दो।'' जाड़ा लगा है तो अलग क्यों नहीं जला लेता। लोगों ने बात तो हँसी में कहीं थी पर वह सच थी। रमुआ सिद्ध पुरुष ही था। उसने नम्रतापूर्वक कहा– 'अच्छा भाई थोड़ी आग तो लेने दो, यों कहके गजी का खेस (खद्दर की मोटी चद्दर) बिछा दिया और हाथों से आग भरकर खेस पर उड़ेल ली। अलग खींचकर खेस पर ही आग जलाई तथा खेस के एक छोर पर बैठकर तापने लगे ! आग भरने में न हाथ जले न खेस का एक धागा तक जला। गुरु चेतनदास जी ने कहा– 'अरे रमुआ' तू तो सिद्ध हो गया। अब तू यहाँ से दूसरी जगह चला जा। यहाँ मत रह, क्योंकि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। गुरु की आज्ञानुसार बाबा रामदास उसी झाड़ी में आ बैठे जिसके बाद में 'करह' नाम पड़ा। वहीं उन्होंने साधना

की। सर्व प्रथम इन्होंने वहाँ एक मंदिर बनवाया जिसमें श्रीराम जानकी जी की मूर्तियाँ स्थापित कीं।

उन्हीं के हाथ का लगाया हुआ बरगद का विशाल वृक्ष आज भी उनकी समृति को हरी–भरी एवं सघन बनाए हुए है। सिद्ध रामदास जी के एक शिष्य थे जानकीदास। पर उनमें वह चमत्कार न था। उनके पश्चात् चोर डाकुओं के डर से वे श्रीराम जानकी जी की मूर्तियों को लेकर करह से 'धनेले' चले गये। धनेले गाँव में आज भी वही श्रीराम जानकी जी की प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। उस मंदिर को ग्वालियर रियासत की ओर से कुछ सालाना द्रव्य बाँध दिया था, वह आज तक चला आता है।

सिद्ध रामदास जी ने बहुत सी गायें पाली थीं। खूब दूध होता था। एक कढ़ाह चढ़ा रहता उसमें दिन भर दूध ओंटता था जो कोई साधु ब्राह्मण या कोई भी भूखा–प्यासा आता उसे उसी कड़ाह से दूध निकाल कर पिला देते थे। सारे दिन यही क्रम चलता था। आसपास उनके दूध का कढ़ाह इतना प्रसिद्ध हुआ कि लोग बाबा के आश्रम को ही 'कढ़ाह' कहकर पुकारने लगे। धीरे–धीरे वही 'कढ़ाह' 'करह' बनकर आज तक पुकारा जाता है। इस प्रकार 'करह' नाम के साथ सिद्ध महात्मा की प्राणि–सेवा का अपूर्व इतिहास जुड़ा हुआ चला आता है। सिद्ध रामदास जी को वह सिद्धि भी उनसे पूर्व एक अन्य सिद्ध से प्राप्त हुई थी। वे सिद्ध भी करह की झाड़ी में ही रहते थे। उन्होंने रामदासजी की बड़ी कठिन परीक्षा ली तब वहां रहने दिया। कहते हैं एक बार रात में ये सो रहे थे कि सहसा पैरों की तरफ आग जल उठी और किसी ने इनका एक पैर घसीट कर उस जलती आग में रख दिया पर ये किसी कच्चे गुरु के शिष्य तो थे नहीं इन्होंने अपना दूसरा पैर भी आग में रख दिया ! इनकी इस दृढ़ता और कष्टसहिष्णुता को देखकर सिद्ध बाबा इन पर प्रसन्न हो गये और बाबा रामदास जी को भी सच्चा सिद्ध बना दिया।

सिद्ध रामदास जी के समकालीन एक अन्य सिद्ध सन्त थे– बाबा सीताराम जी। वे ''घुरैया बसई'' के गुर्जर नरेश राजा रामपाल के वंशज थे। उनका रामदास जी महाराज से बड़ा स्नेह था। वे बराबर करह आया करते थे। उनके विषय में भी चमत्कार की अनेक कथाएँ सुनी जाती हैं। घुरैया बसई गाँव में उनका बैठका बना हुआ है। आज भी लोग वहाँ नत मस्तक होते हैं– पूजा करते हैं। इससे उनकी विघ्न बाधाएँ दूर होती हैं। करह पर सरयू कुण्ड के पास बनी हुई तीन छत्रियों में से बीच वाली छत्री उन्हीं की स्मृति में बनी हुई है। इन सिद्ध पुरुषों ने लगभग संवत् १८८५–९० में इस स्थान को अपनी साधना से चैतन्य बनाया था उनके पश्चात् करह का स्थान बहुत वर्षों तक सूना पड़ा रहा। इस बीच स्थान का रूप बड़ा भयावह हो गया था मंदिर जीर्ण होकर टूट–फूट–सा गया। सब जगह झाड़ झंखाड़ खड़े थे। चारों ओर सर्पों की बामियाँ ही बामियाँ दिखाई देती थीं। बड़े–बड़े सर्प और बिच्छू दिन में ही निर्भय विचरण करते थे। सिंहों के रहने का स्थान हो गया था। लोग वहाँ दिन में जाने से डरते थे रात में रहने की तो चर्चा ही क्या ! हमारे भावी सिद्ध पूज्य रामरतनदास जी महाराज ने उसी झाड़ी में अपनी साधना की ज्योति जगाई। वे साँझ के समय उसी स्थान पर पहुँचे, उसी टूटे हुए मंदिर के एक कोने में अपना आसन जमाया, मानों सर्प, बिच्छू, गोह, काँतर, सिंह, बाघ जैसे जहरीले विस्फोटक प्राणियों में 'ईश्वर सर्व भूत में अहई' इस सिद्धांत का आचरण में परीक्षण करने के लिए उसी स्थान को दैवी प्रयोगशाला का रूप देने की ठान ली।

दूसरे दिन खैरवाहे गाँव का दुल्ली भगत पास की खान में काम कर रहा था। वह पानी लेने के लिए करह के झरने पर आया। आज जहाँ सरयू कुण्ड है वहां पहले झरने का रूप था। हाथ से लौटा–बाल्टी डूबोकर पानी भर लिया जाता था। उसने पानी भरा कि सहसा

उसे मनुष्य की आवाज सुनाई पड़ी। कुतुहलवश वह उधर बढ़ा तो उसने देखा कि एक नौजवान साधु बना बैठा है। दूल्ही ने इन्हें पहचान लिया, उसने कहा–बाबा तो बन गये हो, पर यहाँ ठहरना बड़ी टेढ़ी खीर है। यहाँ सिद्ध बाबा बड़ी– बड़ी परीक्षा लेते हैं। कम से कम तीन दिन तक तो रोटी से भेंट होने ही नहीं देते। खैर कोई बात नहीं, आज तो मैं शाम को आटा–दाल गाँव से भिजवा दूँगा, यह कहके दुल्ही भगत चला गया। शाम को खान के काम से छुट्टी पाकर वह जब घर पहुँचा तो बाबा को आटा दाल भिजवाना भूल गया। रामरतनदास जी दिन भर भूखे ही रह गये। दूसरे दिन दुल्ही पानी भरने फिर करह पर पहुँचा तो उसे याद आई कि आटा दाल नहीं भिजवाया। बड़ा पश्चात्ताप हुआ और कह गया कि आज अवश्य भिजवा दूँगा। घर जाकर वह फिर भूल गया। इस प्रकार बाबाजी का दूसरे दिन भी उपवास ही हो गया। तीसरे दीन जब दुल्ही पानी भरने करह पह पहुँचा तो उसे फिर यह आई कि आटा दाल नहीं भिजवाया। उसे असीम आश्चर्य हुआ कि इसके पहले तीन दिन से याद नहीं रहती, यह क्या बात है ! उसे बेहद दुःख हुआ कि मेरे कारण एक साधु तीन दिनों से भूखा बैठा है। पता नहीं, इस अपराध का सिद्ध बाबा मुझे कौन सा दण्ड देंगे ! बाबा जी महाराज ने हँसकर कहा– दुल्ही भगत ! यह तो सिद्ध बाबा की लीला है– तुम्ही ने तो कहा था कि सिद्ध बाबा तीन दिन तक रोटी नहीं देते। बेचारा दुल्ही जान गया। उसने पानी का घड़ा वहीं रखा और सीधे गाँव जाकर दाल आटा लाया और बाबा महाराज को दिया। तब उन्होंने प्रसाद बनाया। परन्तु यह व्यवस्था केवल दो एक दिन चली। प्रति दिन उस भयानक जंगल में कौन आटा दाल देने जाता और कौन अपने प्राण संकट में डालता ? और तब पूज्य महाराज जी को कई उपवास करने पड़े– फिर भी उदर के लिए वे किसी से याचना करने न गये न किसी से चर्चा की। पर यह शरीर तो पंचभौतिक है उसकी क्षीणता तो

भौतिक पदार्थों से ही रोकी जा सकती है। यदि उसे अशक्त होने से नहीं बचाया जायेगा तो साधना नहीं बन सकती। 'शरीर माघं खलु धर्म साधनम्' अथवा 'तन बिन वेद भजन नहिं वरना'। कबीर साहब ने भी कहा है–

कबिर क्षुधा है कूकरी करत भजन में भंग
जा को टुकड़ा डालके सुमिरन करो निसंग

अतः पूज्य महाराज जी ने क्षुधा कूकरी को शान्त करने के लिए धूनी की भस्म घोल–छानकर पी ली। कुछ दिनों 'धव' नामक वृक्ष की नीरस पत्तियाँ पीसकर पी और कुछ दिनों तक नीम की पत्तियों को पीस–पीस कर पीते रहे। इससे शरीर में गर्मी व्याप गई। वहीं गर्मी बाद में चर्म रोग बनकर उभरी थी।

इस प्रकार पूज्य महाराज जी के धैर्य की परीक्षा हो रही थी। पर वे इन कठिनाईयों से तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने संकल्प कर लिया था। कि चाहे शरीर भले ही छूट जाय किन्तु इस शरीर के लिए हम किसी से माँगेंगे नहीं। वस्तुतः धीर पुरुषों का ऐसा स्वभाव ही होता है–

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव मे मरण मस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

अर्थ– नीति निपुण लोग चाहे निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी रहे या जाय, मृत्यु चाहे आज ही हो जाय अथवा युगों के बाद परन्तु धैर्यशाली पुरुष न्यायपूर्ण मार्ग से एक पग भी इधर उधर विचलित नहीं होते।

ऐसे मनस्वियों की आन–बान भगवान रखते हैं, उनकी टेक पूरी करते हैं। पूज्य बाबा महाराज जब अपने संकल्प से न डिगे तो उन पर

कृपा थी। धनेले गाँव के पास एक मारवाड़ी का पुरा है। वहीं के सोनेराम भक्त को स्वप्न हुआ कि करह पर महात्मा भूखा बैठा है उसके लिए भोजन बना के ले जाओ। यह सेवा तुम प्रतिदिन किया करो। मारवाड़ी के पुरा का भक्त दूसरे दिन दूध रोटी लेकर महाराज जी के पास करह पर पहुँचा। उन दिनों पूज्य बाबा महाराज आटा–दाल ही लेते थे। अपने हाथ से भोजन बनाते थे। जब इस भक्त ने स्वप्न में हुई सिद्ध बाबा महाराज की आज्ञा सुनाई तो महाराज जी ने उसके यहाँ का बना भोजन स्वीकार कर लिया। तभी से उन्होंने परमहंस वृत्ति स्वीकार की। वास्तव में जिन्हें प्रत्येक मनुष्य में–चाहे वह जिस जाति का हो जिस वर्ण का हो और चाहे जिस धर्म को मानने वाला जो–ईश्वर के दर्शन करने हैं– राम की लीला देखनी है, और जिन्हें प्रत्येक जीव जन्तु में अपने ही आराध्य की विचित्र झाँकी करनी है उन्हें लोक की संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठना ही पड़ेगा। अन्यथा वे अपने सिद्धांत के प्रति ईमानदार नहीं रह सकते, बल्कि यह एक हास्यास्पद स्थिति होगी कि सबको राम का रूप माने वह जातिभेद, धर्मभेद अथवा वृत्तिभेद के कारण किसी को अस्पृश्य माने, किसी को बड़ा माने किसी को छोटा माने। पूज्य महाराज तो इस झमेले से दूर थे। कबीर ने कहा है–

निर्मल हुआ तो क्या हुआ निर्मल मांगे ठौर।
मल–निर्मल से दूर हैं वे साधु कोउ और॥

अब प्रतिदिन उसी भक्त के यहाँ से भोजन आने लगा पत्थर का एक कुण्डा था। महाराज जी की थाली, कटोरी वही थी। उसी में मिलाकर प्रसाद पाते थे। सोनेराम की यह सेवा बिना नागा चल रही थी। उस भक्त के यहाँ दो सौ गायें और साठ भैंसें थीं, दूध इतना होता था। कि सब गायें नहीं दुह पाती थीं। दिन भर बछड़े पिया करते। लोगों

का कहना है कि उसकी गायें खूब चरी हुई, हृष्ट–पुष्ट थीं और साथ ही इतनी विकट कि कोई उन्हें हाथ नहीं लगा पाता था। वे इतनी सधी हुई थीं कि उनके गोल में सहसा शेर भी नहीं घुस सकता था। सोनेराम अपनी गायों को चरने जंगल में छोड़ देता था और स्वयं महाराज जी के लिए भोग लेकर करह पहुँचता। वहाँ से गायों की रखवाली में पहुँच जाता था। एक समय की घटना है। गायें जंगल में चरने गयी थीं। उन गायों की टोह में चोरों का एक गिरोह कई दिनों से लगा था संयोगवश सोनेराम भगत जंगल में गायों की रखवाली में नहीं पहुँच पाया। गायें अकेली चरती रहीं। चोरों ने इस अवसर से लाभ उठाया। वे पर्याप्त संख्या में थे। सबने मिलकर गायें हाँक लीं और उन्हें वे चम्बल नदी के बीहड़ में धँसा ले गये। धनेले गाँव के पास ''मारवाड़ी पुरा'' है। सोनेराम भगत वहीं रहता था। वहाँ उसने देखा कि करह वाले बाबा महाराज चले आ रहे हैं। उसने दौड़कर चरणों में प्रणाम की। महाराज जी बोले– 'एँरे भगत, चोर तेरी गायों को 'चम्बल' के अमुक बीहड़ में घुसा ले गये हैं, जल्दी जाओ। सुनते ही सोनेराम दौड़ा और उसी स्थान पर जा पहुँ चा। गायें काफी दूर थीं। सोनेराम ने एक टीले पर चढ़कर एक विशेष प्रकार की किलकारी दी। उसकी आवाज जैसे ही सुनी सारी गायें झुंड बाँधकर उलट पड़ीं–चोरों का घेरा तोड़कर पूँछ उठाये सोनेराम के शब्द–संकेत पर दौड़ आईं, चोर उन्हें न रोक सके–गायें घर आ गयीं। सोनेराम प्रसन्न होकर 'करह' पर बड़े महाराज जी के पास गया। चरणों में गिर पड़ा और बोला– ''महाराज जी ! आपने मेरे लिए बड़ा कष्ट उठाया कि सूचना देने इतनी दूर चलकर पहुँचे।'' महाराज जी ने मुस्कुरा के कहा– ''एँ रे भगत ! हम तो कहीं गये न आये। यह तो रामजी की लीला है।'' सोनेराम समझ गया। महाराज जी की महिमा गाँव–गाँव फैल गयी।

पशुयोनि में भी सन्त

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः
शुराः शरण्याः सौमित्रे ! तिर्यग्योनिगतेष्वपि।

वा.रा.अरण्य.

''जटायु के प्रसंग में श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं– हे लक्ष्मण ! धर्म का आचरण करने वाले साधु, शूर एवं शरण देने वाले प्राणी तिर्यक् योनियों में भी देखे जाते हैं।''

पूज्य श्री महाराज जी के लिए भोग लाने वालों में अभी तक सोनेराम भगत का ही प्रथम स्थान था। अब ''खैरवाहे'' का भगत दुल्ली और उसका छोटा भाई हुकुमसिंह भी भोग लेकर जाने लगे। महाराज जी के प्रति छोटे भाई हुकुमसिंह का बड़ा स्नेह था। अपने यहाँ से प्रतिदिन वह दूध–रोटी ले जाता, दही ले जाता, किन्तु उसे एक बात खटकती। बड़े महाराज जी दूध रोटी ग्रहण करते बहुत स्वल्प। उसमें से अधिकतर भाग 'बण्डा भगत' को देते थे। बण्डा भगत एक कुत्ता था। उसके पूँछ नहीं थी, अतः महाराज जी उसे 'बण्डा भगत' कह कर पुकारते थे। उनका कथन था कि ''यह एक साधु है, किसी अपराध के कारण कुत्ता बन गया है। बैसे बड़ा भक्त है यह।'' वास्तव में बण्डा भगत बड़ा विलक्षण था। जब कोई भक्त पूज्य महाराज जी के दर्शनों को आता और वह जंगल में मार्ग भूल जाता तो महाराज जी की कुछ ऐसी प्रेरणा होती थी। बण्डा भगत तीर की तरह छूटता और भूले भगत को रास्ता दिखाता स्थान पर ले आता था। पूज्य श्री छोटे महाराज जी (बड़े महाराज जी के यशस्वी शिष्य बाबा रामदास जी) करह पर आते तो बण्डा भगत दौड़कर चरणों में सिर रख देता था। बड़े महाराज जी के चरणों में तो प्रतिदिन प्रणाम करता था। उसमें दूसरी विचित्रता यह थी कि वह एकादशी के दिन अन्न नहीं खाता था। बहुत से लोगों ने उसकी परीक्षा ली। बण्डा भगत खरा उतरा।

यदि कोई एकादशी के दिन उसे मालपुआ, पूरी आदि देता तो बण्डा भगत उसे मुँह में दबाकर दूर ले जाता और जंगल में पंजों से गड्ढ़ा खोदकर गाढ़ आता था, और द्वादशी के दिन निकाल के खा लेता था। उसका यह आचरण बहुत ही आश्चर्य जनक था। पूज्य महाराज जी तो कहते थे– ''भैया ! यह वैष्णव है। एकादशी को अन्न कैसे ले सकता है ?''

बण्डा भगत की तीसरी विलक्षणता एक और थी। वह उस भक्त की रोटी कदापि नहीं खाता था जो उसे प्रेम से नहीं देता था। एक बार की बात है। ''खैरवाहे'' का भगत हुकुमसिंह महाराज जी के लिए दूध रोटी को भोग लाया। उन्होंने उसमें से थोड़ा–सा ग्रहण किया शेष सब बण्डा भगत के आगे बढ़ा दिया। हुकुमसिंह को यह बात अच्छी नहीं लगी। बिना कहे उससे रहा भी न गया। वह बोला– ''महाराज जी। दूध रोटी तो हम आपके लिए लाते हैं, आप उसे कुत्ते को देते है। कुत्तों को ही खिलाना होगा तो कुत्ते हमारे गाँव में ही बहुत हैं !'' पूज्य महाराज जी सुनकर बहुत गंभीर हो गये और बोले ''अरे भैया भगत ! हमारे लिए बण्डा भगत कुत्ता नहीं, साधु है। यदि तुम कुत्ता मानते हो ते दूध रोटी मत लाया करो। हमें कोई अपना शरीर तो मोटा करना नहीं है कि दूध पिया करें।'' यह सुनकर हुकुमसिंह बहुत लज्जित हुआ। महाराज जी से क्षमा माँगी। गाँव चला गया। दूसरे दिन वही भक्त दूध रोटी लेकर फिर आया। महाराज जी ने अन्य दिनों की भांति उस दिन भी बण्डा भगत के सम्मुख सरका दी किन्तु बण्डा भगत ने उधर से अपना मुँह फेर लिया। हुकुमसिंह के भोग का एक कण भी नहीं छुआ ! एक महीने तक उसका यही रुख रहा। वह दूसरे के लाये भोग से ग्रहण कर लेता था, उसके भोग को देखता भी नहीं था। इसी बीच एक दुर्घटना हो गई। हुकुमसिंह भगत की छह भैंसों को सिंह ने मार दिया। भगत बड़ा दुखी हुआ। महाराज जी के सामने रोया। महाराज

जी बोले– ''भैया बण्डा भगत नाराज हैं। उसने एक महीने से तेरा अन्न ग्रहण नहीं किया है। साधु गाय होते हैं किन्तु उनका अपमान सिंह बन जाता है। उसी की लीला है।''

उसे तू मना ले। फिर कभी ऐसी लीला न होगी। हुकुमसिंह बण्डा भगत के लिए मीठा लाया। सामने रखकर उसके चरण छुए। किन्तु बण्डा भगत ने मीठे की ओर से मुँह फेर लिया। तब बड़े महाराज जी ने कहा– ''अरे बण्डा भगत ! अधिक क्रोध करना ठीक नहीं। साधु मानापमान का विचार नहीं करते। सन्तों का भूषण तो क्षमा है। अब तुम हुकुमसिंह भगत का अन्न ग्रहण करो यह सुनकर बण्डा भगत ने एक बार महाराज जी की ओर देखा और सिर झुकाकर प्रसाद पाने लगा।''

धीरे–धीरे बण्डा भगत की बड़ी ख्याति हो गयी। लोग उसके नाम से मनौतियाँ मनाते। कार्य सिद्ध होने पर सत्यनारायण की कथा कहलाते थे। एक बार तो बण्डा भगत ''हठूपुरा'' गाँव में न्यौता खाने भी गये। घटना इस प्रकार है– हठूपुरा का एक भगत था। वह बड़े महाराज जी के पास गाँव से सातवें दिन आया करता था। रामनाम खूब लेता था। उसकी जीभ लगती थी अतः ''सीताराम'' को ''चीटाराम–चीटाराम'' कहता। भगवान् तो भाव के भूखे होते हैं। उसका हृदय शुद्ध था। नाम पर विश्वास था। इसलिये उस पर महाराज जी की ऐसी कृपा हुई कि उसे भावी घटनाओं का कुछ आभास मिलने लगा। वह ''चीताराम–चीताराम'' कहते–कहते झँपकी लेने लगता। सहसा चैतन्य होकर कहता ''महाराज जी ! आज तो धनेले से खीर पूड़ी आ रही हैं'' थोड़ी देर में सचमुच ही खीर पूड़ी आ पहुँचता। कभी झँपकी लेकर कहता ''महाराज जी ! आज तो एक भगत भण्डारा करने आ रहा है'' महाराज जी कहते– अरे भगत ! तुम खोने–पीने का ध्यान किया करते हो ? ''भगत हाथ जोड़ के कहता नहीं महाराज जी, सब आपकी ही

लीला है।'' वह इसी तरह की कौतुक भरी बातें किया करता। एक बार कौतुकीनाथ ने श्री छोटे महाराज जी से कहा– ''मेरे घर आपका निमंत्रण है। हठूपुरा भोजन करने पधारिये'' उस समय छोटे महाराज जी का जीवन कठिन साधनामय था। वे कहीं निमंत्रण पाने नहीं जाते थे। अतः उन्होंने कौतुकीनाथ का न्यौता स्वीकार नहीं किया। श्री बड़े महाराज जी बोले– ''अरे भैया कौतुकीनाथ ! आज तो तेरे घर यह बण्डा भगत निमंत्रण पाने जायेगा। इसी को प्रेम से खिलाना'' कौतुकीनाथ ने स्वीकार कर लिया और वह घर चले गये।

कौतुकीनाथ ने विविध प्रकार के व्यंजन बनवायें। ठीक दोपहर के समय बण्डा भगत 'करह' से उठे और चल पड़े। आश्चर्य की बात यह थी कि इसके पूर्व बण्डा भगत को ''हठूपुरा गाँव का मार्ग भी ज्ञात नहीं था। किन्तु चल पड़ा तो सीधा हठूपुरा पहुँचा ! केवल हठूपुरा ही नहीं, वह सीधे कौतुकीनाथ के घर जाकर उसके चौके में जा खड़ा हुआ। कौतुकीनाथ ने सादर चरण धोये। उसकी माता ने आरती उतारी। विविध प्रकार के भोजन परोस कर जिमायें। भोजन के बाद बण्डा भगत उठकर चल पड़े और करह पर आ पहुँचे।''

'बण्डा भगत को दण्ड'

जो सन्त का साक्षात्कार कर लेते हैं, जिन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान हो चुकता है, उनके मन को विषय नहीं खींच सकते। पारस के स्पर्श से जो लोहा सोना बन सकता है, वह फिर लोहा नहीं हो सकता। परन्तु जो साधक कोटि के साधु हैं, उनके लिये विषयों का आकर्षण बना ही रहता है। यद्यपि बण्डा भगत का आचरण पशु जैसा न होकर एक नम्र सन्त जैसा था परन्तु उसका जन्म तो पशु योनि में हुआ था– वह भी कूकुर की नीच योनि में। उसके प्रभाव से वह कैसे अछूता रहता ?

क्वार का महीना था। बण्डा भगत अपने भगत रूप को भूलकर जगत रूप में पड़ गये। दिन–दिन भर अन्य कूकुरों के साथ बण्डा की नोंच–खसोंट चलने लगी। विषय के प्रबल नशा में बण्डा खाना–पीना भी भूल जाता और यह भी नहीं देखता था कि यहां रामनाम का कीर्तन हो रहा है या भगवान् की कथा हो रही है। बुरी तरह भोंकना, कुत्तों से लड़ना और विषय के पीछे दौड़ना, यही काम था उसका। पूज्य बड़े महाराज जी ने जब बण्डा का यह विरुद्ध आचरण देखा तो रुष्ट होकर बण्डा से बोले– क्यों बण्डा भगत ! रामजी का प्रसाद खा–खाकर यह काम करते हो ? एक बार चूके तो कुत्ता बने अबकी बार चूके तो कहाँ गिरोगे यह नहीं सोचा ? सुनते ही बण्डा भगत का बुखार उतर गया। वह पूँछ दबाकर एक कोने में जा बैठा। खाना–पीना छोड़ दिया। एक महीने का उपवास कर डाला। शरीर में केवल हड्डियाँ रह गईं। एक स्थान पर पड़ा रहता। शरीर से बदबू आने लगी। एक–दो साधुओं ने कहा, 'महाराज जी ! बड़ी बदबू आती है, इसे यहाँ से अलग हटा दिया जाये' महाराज जी तब बण्डा भगत के पास गये उसके दुर्गन्धि–पूर्ण एवं अस्थिमात्र विकृत शरीर पर कृपा का हाथ फेरा। उसे रोटी खिलाई, और तब बण्डा भगत ने खाना शुरू किया। थोड़े ही दिनों में उसका शरीर चंगा हो गया।

रहनी

अहेरिव गणाद् भीतः सम्मानान्नरकादिव,
राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्या मधिगच्छति।

अर्थ– ''जो जन समूह से ऐसे डरता है जैसे सर्प से, सम्मान से ऐसे डरता है जैसे नरक से और स्त्रियों से ऐसे डरता है जैसे राक्षसियों से, वही विद्या प्राप्त कर सकता है।''

शास्त्रों में कुछ ऐसे निषेध–वचन आते हैं जिनका वाच्यार्थ निन्दा परक प्रतीत होता है पर वास्तव में उनका तात्पर्य किसी की निन्दा में नहीं, संयम एवं त्याग में होता है। वैद्य किसी रोगी को मना करता है कि अमुक पदार्थ तुम्हारे लिये विष है, तो इसका अर्थ विष नहीं होता। ''सन्निपात के रोगी के लिए शीतल जल का स्नान मृत्यु तुल्य है।'' इसका अर्थ, शीतल जल की निन्दा नहीं, केवल विशेष परिस्थिति में वह अग्राह्य है, बस इतने में ही वाक्य का तात्पर्य है। साधना के पथ में भी शास्त्रीय वाक्यों का यही अर्थ लेना चाहिए।

करह आश्रम पर पूज्य श्री महाराज जी का आरंभिक जीवन भी कठिन साधनामय था। वे रात के समय कभी भी स्त्री या पुरुष को ठहरने नहीं देते थे, दर्शनार्थ लोग दिन में आते और सूर्यास्त से पहले ही चले जाते थे। एक बार पूज्य श्री महाराज जी की माता आईं। उनका आदर किया। वे सारे दिन रहीं। रात भर आश्रम पर ही रहने की इच्छा प्रकट की, किन्तु श्री महाराज जी ने माँ को भी आश्रम पर रहने से मना कर दिया। माँ के हृदय को चोट पहुँची और उन्होंने आग्रहपूर्वक रात भर रहने का निश्चय किया। महाराज जी चुप रह गये, रात के समय माता के सम्मुख ऐसे भयानक दृश्य आये कि वे घबड़ा गईं। उसके पश्चात् वे फिर कभी आश्रम पर नहीं गईं।

महाराज जी के सिर पर बड़ी–बड़ी जटाएँ हो गयी थीं। तपस्वी महाराज के शिष्य थे। अतः शरीर पर भस्म रमाते थे। पास में एक तुमा और एक चिमटा था। तूम्बी का कमण्डलु टूट गया तो किसी भक्त ने मिट्टी का पात्र लाके रख दिया। उन्होंने इसे भी प्रभु की इच्छा का ही कार्य समझा। वे उस मिट्टी के पात्र को ही काम में लाने लगे। इसी बीच एक सन्यासी आश्रम पर पधारे। महाराज जी के समीप मिट्टी का 'चपटा' देखकर उन्होंने कहा– 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता। गीता कर्म का उपदेश देती है। तुमको कर्मकाण्ड का पालन करना चाहिए। तुम

कैसे वैष्णव हो ? शास्त्र के अनुसार मिट्टी के पात्र को एक बार मुँह से लगाने के पश्चात् उसे फेंक देना चाहिए।' सन्यासी सन्त इतना कहके चुप न हुए, उन्होंने मिट्टी के पात्र को हटाकर धातु पात्र रखवा दिया। वे तो निरभिमान थे। सबसे प्रभु की प्रेरणा प्राप्त करते थे। रज्जव ने कहा–

दो.– रज्जव दोष न कीजिए कोउ कहे ये योंहि।
हँसकर उत्तर दीजिये "हाँ–हाँ बाबा योंहि।"

उन्होंने लोटा रख दिया तो लोटे को काम में लाने लगे। एक बार प्रभु की प्रेरणा से एक ब्राह्मण देवता आये। लोटा देखने में अच्छा था। ब्राह्मण देवता उसे माँग बैठे। महाराज जी ने दे दिया। उनके लिये यह भी प्रभु की ही प्रेरणा थी। फिर मिट्टी का पात्र रहने लगा। एक दिन सीतापुर के एक वैष्णव संत आये। वे महाराज जी के ही बड़े गुरु भाई थे। 'चपटा' रखना उन्हें भी पसन्द न था। अतः उन्होंने उस पात्र को फोड़ दिया। उसकी जगह बड़ा–सा साधु–साही लोटा रख दिया। वे रखकर गये तो एक राम के भेजे आ पहुँचे। और बोले–'महाराज जी! कुछ मिल जाये' पूज्य श्री महाराज जी के पास भौतिक वस्तु वहाँ क्या थी। वही एक लोटा था। उठा के दे दिया। मिट्टी का पात्र फिर आ गया। इसी को प्रभु प्रेरणा मानकर उसी पात्र को रखने लगे।

पूज्य श्री महाराज जी के माथे पर जटाओं का जाल सा फैल गया था। उन्हें कौन संभाले ? यहां तो स्वयं शरीर की संभाल नहीं थी। जंगल में आजादी से उगी हुई लताओं की तरह जटाएँ सिर पर छितरा गई थीं। उलझ–पुलझ कर वे मुख पर आतीं, पीठ पर जातीं, कन्धों पर फैल जाती थीं। उनकी कोई रोक–रोट नहीं थी। होती भी कैसे ? आखिर बड़ों के सिर पर जो चढ़ी थी। जंगल के जीव जन्तुओं की तरह उन जटाओं में भी जीव पैदा हो गये। महाराज जी से सिर में तमाम फोड़े हो गये। वे फोड़े भी इतने दिनारे हो गये कि उनमें भी जीव

जन्तु किलोले करने लगे ! कई भक्तों को बड़ा दुख होता था किन्तु कोई बस नहीं चलता था। महाराज जी को उन कीड़ों पर भी दया थी। अन्ततः एक दिन पूज्य महाराज जी ने अपने माथे से उन सब जटाओं को उतार कर रख दिया जैसे कोई सिर से टोपा उतार कर रख देता है। सिर के सारे बाल अलग हो गये। केवल दाढ़ी रह गयी। ''खैरवाहे के भक्त मनोहर ने उन जटाओं को अयोध्या ले जाकर श्री सरयू में प्रवाहित कर दिया।''

विरही जीवन

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेद-भीरुता,
नादष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम्।

अर्थ– ''प्रिय को बिना देखे, जी देखने को व्याकुल रहता है। देखने पर हृदय इसीलिए व्याकुल रहता है कि कहीं चले न जायें। अतः हे प्रभो ! तुम्हें न बिना देखे चैन न देखे चैन !''

पूज्य श्री बड़े महाराज जी के जीवन में एक बात स्पष्ट ही दृष्टि गोचर होती थी। वे प्रेम की प्रतिमा थे। माला में पिरोये सूत्र की तरह उनकी जीवन–माला में प्रेम का धागा पिरोया हुआ था। उनकी वाणी ऐसी थी, मानो करुणा की वीणा बजती है। साधना के समय और साधना के पश्चात् सिद्धावस्था में भी वे सदा विरही रहे। प्रभुविरह ने उनके मर्म को बेध दिया था। आश्रम में रहते लोग दर्शनों के लिये आया करते थे। समीप में रामायण की पुस्तक रखी रहती थी। जहां कोई पहुँचता, रामायण की ओर संकेत कर देते थे। यदि कोई पढ़ा होता तो वह रामायण बांच के सुनाता, नहीं तो कीर्तन करता। जहां प्रभु की चर्चा हुई कि वे गद्गद हो जाते थे। यदि कोई मधुर कंठ से प्रेम पूर्वक रामायण की चौपाईयाँ पढ़के सुनाता तो महाराज जी के नेत्रों से आँसुओं के झरने बहने लगते थे। मुँह से बोल नहीं फूटता था। रोते–

रोते आँखें सूज जाती थीं। अत्यन्त करुणा से पुकारने लगते थे– ''हे राम जानकी, दया करो'' इसी विरहावस्था में वे घण्टों पुकारा करते। उन्हें अपने शरीर की सुध–बुध नहीं रहती थी। कई बार ऐसा होता है। कि वे जिस पटिया पर बैठते, उसके चारों तरफ बहुत– से बिल और ददारें थीं। उनमें से लाल चीटियों के दल निकलते। वे महाराज जी के शरीर पर चढ़ जाते। बिच्छू, कांतर शरीर पर रेंगा करते। छोटे महाराज जी घबड़ा के कहते– 'महाराज जी ! आप वहाँ से उठ आईये।' बड़े महाराज जी मुस्कुरा के कहते– 'अरे एँरे भैया, वो तो रामजी की सेना है। रामजी का दल तो सन्तों की रक्षा करता है।' और वास्तव में न कभी बिच्छू ने काटा न किसी चींटी–चीटें ने ही काटा। वे तो श्री रघुनाथ जी के विरह में इतने विह्वल रहते थे कि इन्हें इन सब बातों का ध्यान ही नहीं रहता था। उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया था। खड़े होने में हड्डियाँ चटकती थीं। शरीर में मांस तो नाम को भी नहीं था। रहता थी कैसे ?

दो.– 'कविरा' पिय जिय में बसे, तन में रहे न मांस।
यही गनीमत जानिये हाड़ चाम अरु सांस।

भयानक जीवों में भगवद् भावना

भीति नास्ति भुजगंपुगं-विषात् प्रीतिनं चन्द्रामृतात्,
नाशोचं हि कपाल-दाम-लुलनाच्छौंच न गंगाजलात्।
नोद्वेगरिचति-भस्मना न च सुखं गौरी-स्तनालिंगनाद्
आत्मारामतया हिताहितसमः स्वस्थो हरः पातु वः।

–सूति रत्नाकार

अर्थ– ''जिन्हें सर्पराज के विष से भय नहीं और चन्द्रमा के अमृत से प्रीति नहीं, जिन्हें मुण्डमाला से अपवित्रता नहीं और गंगा–जल से पवित्रता नहीं, जिन्हें चिता–भस्म से उद्वेग नहीं होता और

जिन्हें गौरी का आलिंगन सुख नहीं देता तथा आत्माराम होने के करण जिनकी दृष्टि में मित्र–शत्रु समान हैं वही भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें।''

करह पर सर्पों का बड़ा निवास है। वे जहाँ–तहाँ घूमा करते हैं। कई बार ऐसी विचित्र लीला हुई कि कोई भक्त रामायण सुना रहा है तो उसके सामने सर्प आ बैठता था। जब कोई घबड़ाने लगता तो बड़े महाराज जी कहते– 'अरे एँ भैया, ये तो सिद्ध बाबा हैं। कथा सुनने आयें हैं। तुम घबराओ मत। प्रेम से कथा सुनाओ।' एक सन्यासी आये। नाम था प्रेमानन्द। वे रामायण की कथा कहने बैठे। थोड़ी ही देर में एक विशालकाय सर्प सामने आया और आसन लगा के बैठ गया। सन्यासी महाराज बहुत घबराये। बड़े महाराज जी ने कहा– 'आप डरें नहीं। यह तो शेष भगवान् हैं।' महाराज जी के समझाने पर उन्हें कुछ धैर्य हुआ और वे आगे की कथा कहने लगे। उधर शेष भगवान ने अपनी पालथी खोली तथा धीरे–धीरे सन्यासी जी की ओर बढ़े। सन्यासी जी की भी इधर पालथी खुलने लगी। बड़े महाराज जी ने हँसकर कहा–घबराईयें नहीं, शेष भगवान् आप पर कृपा कर रहे हैं।

महाराज जी की बात थी। जी कड़ा करके बैठे रहे, अन्ततः सन्यासी जो ठहरे ! ''सर्व खल्विदं ब्रह्म'' का उपदेश तो उन्हें भी मालूम था। आज उसकी परीक्षा थी। शेष भगवान् आगे बढ़े बढ़कर उन्होंने उनकी पीठ पर फण रख दिया। धीरे–धीरे पीठ के सहारे सर्पराज सन्यासी जी के सिर पर चढ़ गये तथा अपनी फूल–सी काया से उनके सारे शरीर से लपेट लिया ! महात्मा का सारा शरीर कटंकित हो गया। पसीने से तर बतर हो गया। बड़े महाराज जी ने बहुत–बहुत धैर्य दिया कि ''आप डरें नहीं'' ये शेष भगवान् हैं, बोलेंगे नहीं, आप कथा कहते रहिए। किन्तु सन्यासी जी के मुँह से बोल न फूटे। शरीर थर–थर काँपने लगा। तब बड़े महाराज जी ने हाथ जोड़कर कहा–

''शेष भगवान्, आप पधारों। आपकी लीला से महात्मा जी डर गये हैं।'' इतना कहना था कि सर्पराज महात्मा के सिर से उतरकर अपने बिल में चले गये। सन्यासी को बुखार चढ़ आया। दो दिन बाद उतरा।

शेष भगवान बड़े महाराज जी से खूब हिल–मिल गये थे। जब कहीं से कोई भक्त महाराज जी के लिए दूध लाता कि शेष नाग पहुँच जाते और दूध के भरे लोटे में अपना मुँह डाल के भरा हुआ लोटा चढ़ा जाते थे। दूध पीने के पश्चात् उनका पेट फूल जाता ठीक से चला भी नहीं जाता था। अतः वे लुढ़कते–पुढ़कते चलते और या तो हनुमान जी की मूर्ति के पीछे छिप जाते या महाराज जी की पटिया के नीचे जा बैठते थे। कोई भक्त भगाने का प्रयत्न करता तो उसे रोक देते और कहते– ''अरे नहीं, ये शेष भगवान् हैं क्षीर सागर के रहने वाले हैं। अतः दूध पीने की आदत हो गयी है। रोकोगे तो नाराज होंगे।'' बेचारा भक्त सिर झुकाकर रह जाता। पूज्य महाराज जी की जो भयानक प्राणियों में भी भगवद् भावना थी उसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि दूसरे लोग भी उन्हें उसी भाव से देखने लगे। जंगल से एक बिलौटा आया करता। महाराज जी उसे 'नरसिंह' की पदवी से भूषित करते थे। कुत्तों को 'विट्ठल भगवान' सर्प को 'शेष भगवान्' सिंह को 'नरसिंह भगवान्' कहके पुकारते।

जब ये विषैले जीव ही भगवान् थे तब इतर प्राणियों का तो कहना ही क्या था ? ऐसी दशा में यह भी सम्भव नहीं था कि उन प्राणियों पर प्रभाव न पड़े। योग सूत्र का सिद्धांत है :–

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

'जिस पुरुष में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती, उसके समीप वैर का त्याग हो जाता है।' उसी के फलस्वरूप हिंसक प्राणी भी उनके समीप अपनी क्रूर वृत्तियों का परित्याग कर शान्त स्वभाव के बन जाते थे। लोगों ने अपनी आँखों से देखा कि सिंह, बाबा महाराज के पास

तक चले जाते थे। एक बार की बात है महाराज जी के समीप करह पर दो चार साधु रहने लगे थे। पूज्य छोटे महाराज जी भी थे एक दिन प्रातः महाराज जी दन्तधावन कर रहे थे कि इतने ही में दो सिंह कहीं से चले आये। दोनों सिंहों की अवस्था अधिक नहीं थी। उन्हें देखकर महाराज जी मुस्कुराने लगे, बोले– ''आज तो राम लखन की जोड़ी दर्शन देने आयी है'' यह कहकर उठ खड़े हुए और लगे उन्हें दण्डवत करने ! वे दोनों मस्ती से घूमकर चले गये।

करह स्थान पर एक कुतिया थी। उसका भौंकने का स्वभाव अधिक था इसलिए लोग उसे, लंकलुहरी, कह के पुकारते थे। एक बार संध्या के समय पूज्य महाराज जी सरयू कुण्ड के समीप बैठे भजन कर रह थे। लंकलुहरी कुतिया बाबा के पास बैठी थी। इतने में झाड़ी से निकलकर सरयू के झरने पर जल पीने के लिए एक सिंह आया। लंकलुहरी ने सिंह को देखा। सिंह के सामने श्वान की क्या शक्ति कि वह भौंक भी सके ! परन्तु महाराज जी के समीप बैठी लंकलुहरी उस शेर से क्यों डरने लगी ? उसने भौंकना शुरू किया। वनराज सिंह इस तुच्छ कुतिया की क्या परवाह करता ? वह आकर जल पीने लगा कि लंकलुहरी भौंक कर ही सन्तुष्ट न हुई सिंह के मौन का भय का सूचक मानकर उसने उसकी ओर बढ़ना शुरू किया ! अब सिंह ने मुड़कर देखा और एक हलकी सी हुँकार के साथ वह कुतिया की ओर लपका। लंकलुहरी को जिनका बल था उन्हीं के पीछे जाकर 'कूँ–कूँ' करने लगी। वनराज महाराज जी के ठीक सामने आ खड़ा हुआ। महाराज जी बोले– 'अरे महाराज' आप तो वन के राजा हो, हम तो आपके राज्य में ही रहते हैं– 'यह कुत्तियाँ आपके क्रोध के योग्य नहीं है। इस पर दया करों।' सुनते ही सिंह घूमकर चलता बना। सिंह को जाते देखकर लंकलुहरी का बल चौगुना बढ़ गया और उसने अपना मौखिक बल खूब प्रकट किया। करती भी क्यों न ?

प्रभु प्रताप से गरुड़हि खाइ परम लघु व्याल

एक बार रामायण की कथा हो रही थी। पूज्य छोटे महाराज जी रामायण बाँच रहे थे। दो चार सेवक बैठे थे। पूज्य महाराज जी के नयनों से करुणा का जल झर रहा था। इतने ही में शेष भगवान् आ पहुँचे। परन्तु अब कोई उनसे अधिक नहीं डरता था। डरता भी क्यों ? वे तो अब एक परिवार के प्राणी बन गये थे। वह बढ़कर आये और उन्होंने बड़े महाराज जी के चरणों में अपना फन रखकर अपने प्राण अर्पित कर दिये। रामचरित्र सुनते–सुनते एक सन्त शिरोमणि के चरणारविन्दों में अपने प्राण छोड़ने वाले उस सर्पराज पर बड़े–बड़े तपः पूत साधु भी न्यौछावर हैं। धन्य हैं उसके भाग्य, धन्य है उसका मरण !

अपार सहन–शीलता

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्
अजातशत्रवः शान्ताः साधवत्साधुभूषणाः ॥

–श्री भाग, ३३५

अर्थ– 'साधु भूषण सन्त, सहनशील, करुणापूर्ण समस्त प्राणियों के सुहृद, अजात शत्रु एवं शान्त होते हैं।'

वे सन्त पृथ्वी के भूषण हैं जिनकी दृष्टि में समस्त प्राणी राम रूप हैं। उनके लिये मानापमान का प्रश्न ही कहाँ ? अपने प्रति किये दुर्व्यवहार को वे अपने दुष्कृतों का परिणाम मानकर कष्ट पूर्वक नहीं सहते, अपितु उसे प्रभु प्रेरणा का परिणाम मानकर उसके सहन में आनन्द का अनुभव करते हैं। उसमें कटुता नहीं, मृदुता होती है। यही कारण है कि अपमान करने वाले के प्रति उनके हृदय में दुर्भाव का प्रादुर्भाव नहीं होता।

महाराज जी के दरबार में कितने ही पागल सिड़ी पड़े रहते थे। एक–न–एक सिड़ी तो अवश्य रहता था। वे इस दरबार के विदूषक थे। पर उनकी ऊटपटांग बातें बड़े महाराज जी को ही आनन्द देती थीं। दूसरों को तो क्रोध आता और दुःख होता था,क्योंकि वे महाराज जी से बुरे–बुरे कटु वचन कह डालते थे। कटु वचन ही नहीं, अत्यन्त उद्दण्डता का व्यवहार करते थे परन्तु महाराज जी मन्द–मन्द मुस्कान के साथ अत्यन्त प्रसन्न होते थे बल्कि यह कहना चाहिए कि वे ऐसे ही लोगों से अधिक प्रसन्न रहते थे। हाँ, वे पागल कभी–कभी तो मदारी के जमूरे की तरह उन्हीं का अभिप्राय प्रकट करते थे। बड़ी सटीक भविष्य वाणियाँ करते थे, जिससे तमाम भक्त उन्हीं की करामात समझ लेते और उन्हें पूज्य महाराज जी के शब्दों में 'सिर्री भगवान्' कहते थे। पूज्य महाराज जी की प्रेरणा के पवित्र पात्र पागलों की कथा को पावन मानकर हम उनकी कुछ चर्चा कर रहे हैं।

''दूँदनाक बाबा''

वैसे तो इनके नाम से ही इनका कुछ काम प्रकट होता है फिर भी हमें विशेष रूप से बताना होगा। ये महाशय बात–बात पर 'दूंदननन, किया करते थे। अतः लोगों ने इनका नामकरण कर डाला–दूँदनाक बाबा। ये करह पर आये। उस समय पूज्य बड़े महाराज जी के सर्वप्रथम शिष्य बाबा लखनदास जी महाराज उनके पास थे। संवत् १९८१ में वे महाराज जी के शरणापन्न हुए थे। उनके पश्चात् उसी साल पाँच–छह महीने बाद श्री छोटे महाराज जी उनकी शरण में आये।

पूज्य श्री लखनदास जी महाराज तब से बराबर परमहंस–वृत्ति में रहते हैं। महाराज जी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए हम उनकी सेवा में पहुँचे थे। शरीर के अशक्त एवं अस्थिमात्र अवशिष्ट

रहने पर भी तथा मिलने का समय न होने पर भी वे कृपा पूर्वक मिले। पूज्य बड़े महाराज जी के आँखों देखे चरित्र एवं स्वयं अनुभूत बातें बताईं। उन्होंने 'दूँदनाक' के सम्बन्ध में बताया था कि वह महाराज जी को बहुत तंग करता था। उस पर कोई क्रुद्ध होता तो महाराज उसे शान्त कर देते। एक बार दूँदनाक को बुखार चढ़ आया। जाड़े के दिन थे। बड़े महाराज जी के पास केवल एक-दो वस्त्र थे, दूँदनाक बुखार में काँप रहा था। उसे सारे कपड़े उढ़ा दिये। उसके पास बैठे, उसे सारी रात दबाते रहे। वह कहता-'कमर दबाओ' तो कमर दबाने लगते। कभी सिर दबाने की कहता तो सिर दबाने लगते और कभी चरण दबाने लगते। सारी रात उसकी सेवा करते रहे। स्वभाव उस बाबा का ऐसा था कि उसके पास कोई न फटकता।

जब वह आया ही आया था तो मंदिर में महाराज जी के पास रहने लगा। महाराज जी की सेवा में भक्त लोग गाँवों से दूध-दही का भोग लेकर जाया करते थे। दुँदनाक बाबा यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। बड़े महाराज जी से बोला- ''अरे बाबा ! यहाँ तो बड़े माल आते हैं। तू कहे तो मैं यहीं बना रहूँ ?'' महाराज जी ने कहा- ''रहो सन्त भगवान्।'' दूँदनाक रहने लगा। अब तो उसके यह हाल थे कि दोपहर हुआ नहीं कि दही-दूध लाने वालों को मार्ग में ही जा रोकते। वहीं सब खा-पी लेते। महाराज जी तक तो आ भी नहीं पाता था।

कुछ दिनों बाद उसने एक तीर-कमान बनाई। तीर तान कर आप महाराज जी के सम्मुख आ खड़े हुए और बोले 'बताओ, मैं कौन हूँ ?'

''महाराज ! आप सन्त भगवान् हैं''- महाराज ने उत्तर दिया।

दूँदनाक ने दपट कर उत्तर दिया-

''नहीं, मैं सन्त भगवान् नहीं हूँ''

''तब आप कौन हैं ?''

–हाथ जोड़कर महाराज जी ने पूछा।

मैं धनुषधारी रामचन्द्र हूँ– उनका उत्तर था।

बड़े महाराज जी अत्यन्त श्रद्धा से हाथ जोड़कर बोले–

''अच्छा महाराज, आप धनुषधारी राम हैं।''

बाबा बोला– 'तो तुम तुझे धनुषधारी भगवान् मानते हो ?'

''हाँ महाराज''– महाराज जी ने स्वीकार किया।

''अच्छा, तब तो तुम मेरी आज्ञा भी मानोगे ?''

महाराज जी ने नम्रता से स्वीकार किया तो आप बोले–

''हम धनुषधारी राम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम इस मंदिर से निकल जाओ।''

बड़े महाराज जी तत्काल निकल आये वहाँ आ बैठे जहाँ आजकल करह पर सन्त–निवास बना है। पहले वहाँ पत्थरों को आड़े–तिरछे रखकर किसी ने एक कुलिया सी बना रखी थी। महाराज जी वहीं आ बैठे और बराबर दस महीने तक वहीं रहे। जब प्रातः सरयू कुण्ड पर स्नान करने जाना होता तो मंदिर की ओर से न जाकर बरगद के बगल से निकल जाते थे। यदि कोई भक्त पूछ बैठता कि महाराज जी, मंदिर में क्यों नहीं रहते तो बड़ी गंभीरता से उत्तर देते– ''भैया, रामजी की आज्ञा नहीं है।'' इस सरल उत्तर से सरल भक्तों का प्रश्न हल हो जाता था। इसके आगे वे कुछ न पूछते।

इस प्रकार सर्दी, गर्मी इन्हीं पत्थरों पर बिता दी। एक बार की बात है। आषाढ़ का महीना था। घुरैया बसई के सुघरसिंह ठाकुर महाराज जी के दर्शनार्थ आये। उनके पास बैठकर उन्हें रामायण सुनाई आकाश में बादल छाये थे। बूँदा–बाँदी होने लगी। सुघरसिंह ने कहा– महाराज जी ! यहाँ रामायण भीग जायेगी मंदिर में चलिए। महाराज जी ने कहा– ''भैया, मंदिर में जाने की आज्ञा नहीं है।'' ठाकुर सुघरसिंह पूज्य महाराज जी के मुँह लगे भक्तों में से थे। उन्होंने

कहा– महाराज ! ये रामजी आपसे ही बातें करते हैं, हमसे तो कभी नहीं बोलते ! हमें भी बताओ, वे आपसे ही बातें करते हैं। क्या आपसे रामजी ने स्वयं कहा है कि तुम मंदिर से निकल जाओ ? महाराज जी ने कहा– ''अरे एँरे भैया, सन्त के रूप में साक्षात् धनुषधारी राम विराजमान हैं। उन्हीं की आज्ञा है।'' सुघरसिंह बड़ा चतुर भक्त था। वह समझ गया कि यह दूँदनाक की लीला है। मंदिर में वह उन्हीं के पास पहुँचा। दूँदनाक बाबा से कहने लगा– ''बाबा, तुम साधु हो ? देखो, रामायण बांच रहे थे, रामायण भीग गयी। वे महात्मा पानी में भीग रहे हैं। पानी बरस रहा है। तुमने उन्हें मंदिर से अलग कर दिया है। तुम्हें दया नहीं आती ?'' दूँदनाक की कुछ समझ में बात आ गयी तो बोले– अच्छा तो उन्हें बुला लाओं। सुघरसिंह बोले, मेरे कहने से वह नहीं आयेंगे। आपने निकाला है, उन्हें आप ही बुला लाइए। दूँदनाक बाबा महाराज जी के पास गये और कहने लगे– ''चल अब मंदिर में चल।'' महाराज जी बोले– ''धनुषधारी भगवान् ! आपने तो वहाँ से अलग किया है ?'' दपट कर बोले– ''अरे तो हमीं आज्ञा दे रहे हैं, जा अब मंदिर में रह। वह तुझी को दिया।'' यह कहकर महाराज जी का हाथ पकड़ के उन्हें मंदिर में लिवा गये। स्वयं मंदिर से हट गये किन्तु उनकी विचित्र आदतें नहीं गयीं। एक बार ''खैरवाहे'' का एक भक्त स्थान पर आया। उसके कानों में सोने के चौकड़ा थे। आपने उससे पूछा– ''यह चौकड़े किसके हैं ?'' ''महाराज ! आपके ही हैं''– भक्त ने सहज भाव से उत्तर दिया। जैसे ही उसने कहा कि ये आपके हैं, तैसे ही दूँदनाक बाबा बोले– हमारा है तो इसे उतार, हमें दे ! भक्त सिटपिटाया, पर बेचारे ने उतार दिया। इसी प्रकार एक दिन धनेले ग्राम में घूम रहे थे तो एक बढ़िया सी गाय को देखा तो पूछा– 'यह किसकी गाय है ?' गाय वाले भक्त ने शिष्टाचार के अनुसार उत्तर दिया– 'महाराज यह आपकी है।' इतना सुनना था कि दूँदनाक बोले–

''गाय हमारी है तो तू इसे क्यों लिये जा रहा है ? लाओं हम अपनी गाय ले जायें।'' यह कहके उसकी गाय हाँक ली और किसी दूसरे को दे दिया। तब से लोग समझ गये और उनके पूछने पर कोई नहीं कहता था कि 'यह तुम्हारी है।' दूँदनाक बाबा बहुत दिनों तक गाँवों में घूमते रहे। सब जगह 'दूँदननन' किया करते पर अब लोग उस 'दूँदननन' के धोखे में नहीं आते थे। अन्त में मुरैना जाकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया।

दूँदनाक बाबा के समय तक श्री महाराज जी के पास एक–दो सन्त ही रहते थे। आरम्भ में खिरावली वाले बाबा महाराज थे, उसके पश्चात् श्री छोटे महाराज जी पहुँच गये थे। गाँवों के भक्त लोग अवश्य आया–जाया करते थे। धीरे–धीरे सन्त एकत्र होने लगे। जैसे–जैसे फूल की सुगन्ध बिखरी, तैसे–तैसे भँवरे आने लगे !

हरलाल भगत

कासमखेरे के समीप एक 'खारे' गाँव है। हरलाल भगत वहीं का था। एक बार बड़े महाराज जी के दर्शनार्थ आया तो वहीं रम गया। रमता क्यों नहीं ? जितने सिर–फिरे लोग होते थे उन्हें वहाँ– जैसी सुविधा कहीं नहीं मिलती थी। गाँव के लोग भी ऐसे लोगों को वहीं भेज देते थे। हरलाल भी सिड़ी था, काला कलूटा, लाल–लाल आँखें और विशालकाय, बिलकुल पिशाच जैसा प्रतीत होता था। जब–तब अपनी झोंक में आ के कहता–क्या भाव वहीं भाव ! दिल्ली है, बम्बई है, कलकत्ता है। वैसे वह समझ की बातें करता। हाँ, जब पागलपन में आता तो दो–दो मन के पत्थर उठाकर बरगद के नीचे डाला करता था। बरगद के नीचे बना हुआ पत्थरों का चबूतरा उसके पागलपन का ही सुन्दर परिणाम है। बड़े महाराज जी उसे 'सिर्री भगवान' कहते थे। एक बार की बात है। ''टिकटौली'' के ठाकुर पहलवानसिंह पूज्य

महाराज जी के दर्शन करने आये। उनके पास जो आता वह या तो कीर्तन करता या फिर रामायण बांचता। पहलवान सिंह ने रामाणय बांची। इसके पश्चात पूज्य श्री महाराज जी जिस पटिया पर बैठते थे। इसी पर थोड़ा लेट गये। सिड़ी हरलाल अचानक महाराज जी की पटिया पर चढ़ गया और उनकी छाती पर जा बैठा। महाराज जी के चूतरों पर कोंच–कोंच कर मारने लगा और ऐसे किटकारी मारने लगा जैसे कोई 'किट–किट' करके बैलों को हाँकता है। जोश में भरके कहता भी जाता था कि 'अरे वैरी, तुझे नरसिंहशिला पर काट–काटकर के फेकुंगा। तू वैसे नहीं मानेगा।' ठाकुर पहलवानसिंह भला यह कैसे सह सकते थे। वह वेंत लेकर हरलाल को मारने दौड़े तो महाराज जी हँसकर बोले– 'अरे भगत ! ये तो– सिरी भगवान हैं, ये तो हमारे बड़े प्रेमी हैं, आपने रामायण की कथा कही है अतः इन्हें हनुमान जी का आवेश आ गया है। ये हनुमान जी की लीला करते हैं।' हरलाल सिड़ी तब तक दूर भाग गया। महाराज जी हँसते रहे।

कलुआ भगत

चंदपुरा का कलुआ पागल करह के सिर्री भगवानों की परम्परा में तृतीय था। वह पढ़ा–लिखा था। हनुमान जी के मंदिर के ऊपर रहता है। वहीं बासी–कूसी रोटियों के तमाम टुकड़े इकट्ठे रखता था। दिन भर रामायण पढ़ता, रात भर रामायण पढ़ता। जब तरंग आती तो एक पैर से लँगड़ी भर–भर के हनुमान जी की परिक्रमा किया करता था। महीनों सोता नहीं था। इसलिए उसकी आँखें हमेशा लाल रहती थीं। दूसरे लोग उसे पागल कहते, महाराज जी की दृष्टि में तो वे भगवान थे। बहुत से भक्त पूज्य महाराज जी के पास विविध प्रकार की कामनाएँ लेकर पहुँचते थे तो महाराज जी कहते– ''भैया ! वे सिर्री भगवान् जाने उनके पास जाओं। उन्हीं से कहो''। लोग अपनी कामनाएँ

उनसे प्रकट करते। कलुआ भगत किसी पर प्रसन्न हो जाते तो कह देते– 'जा तेरा काम बन जायेगा।' किसी से बिलकुल बोलते ही नहीं थे फिर चाहे वह कितनी ही विनती करें। लोगों ने यह प्रत्यक्ष अनुभव बताया कि जिस पर कलुआ प्रसन्न हो जाये उनका काम सिद्ध हो जाता था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धाई का स्रोत अन्यत्र था।

गोविन्ददास

बड़े महाराज जी का एक शिष्य था। नाम था गोविन्ददास। पर ऐसा विलक्षण शिष्य था कि उनका उदाहरण ढूँढ़ने पर भी शायद ही मिले। करह के पास एक पहाड़ी गाँव है। वह वहीं रहता था। एक दिन वह महाराज जी के पास आया। बड़े महाराज जी पटिया पर बैठे थे। जाकर सामने खड़ा हो गया न दण्डवत् न नमस्कार ! बड़े जोश में बोला– ''मैं ग्वालियर महाराज के यहाँ आपकी दरख्वास्त दूँगा कि तुमने मुझे चेला बनाकर मेरा घर चौपट कर दिया। न जाने मुझे कैसा थोथा मंत्र दे दिया है कि उससे कुछ भी फायदा नहीं होता। तुमने लखनदास को चेला बनाया है, रामदास को चेला बनाया है, वे दोनों खूब मौज उड़ा रहे हैं। कहीं सप्ताह कराते हैं, कहीं कीर्तन क़राते हैं, कहीं यज्ञ कराते हैं और एक हम चेला हैं कि हमें कोई पूछता नहीं ?'' इस अनोखे शिष्य की अनोखी बातों को सुनकर बड़े महाराज जी हँसने लगे। महाराज जी को हँसते देखकर स्वर को तार सप्तक में चढ़ाता हुआ बोला– ''हँस क्या रहे हो ? वैरी, तो पै ऐसी गुस्सा आती है कि तुझे पटिया के नीचे पटक कर छाती में दो लातें लगाऊँ'' इतना उसका कहना था कि बड़े महाराज जी खूब खिलखिला के हँसने लगे लेकिन दूसरे साधु किट–किटाकर गोविन्ददास को मारने दौड़े तो महाराज ने रोककर कहा– ''अरे भैया मारो मत ! साधु है हमारा तो

बड़ा प्रेमी है। आज कुछ हनुमान जी के आवेश में है। वह लीला कर रहे हैं।'' तब कोई कहता– 'अरे महाराज जी हनुमान जी कहीं सन्तों के लात नहीं मारा करते।' महाराज हँसकर रह जाते। उससे पूछते– 'अरे गोविन्ददास ! तुझे क्या चाहिए ? गोविन्ददास पहले तो डर गये थे, लेकिन महाराज जी का रुख पाकर बोले–न हमारे पास बिछौना है, न थाली है, न आटा दाल है। बताओं हम क्या करें ? उस समय पूज्य बड़े महाराज जी के शरीर पर केवल एक ही वस्त्र था। वे उतना ही रखते थे। द्रवीभूत होकर गोविन्ददास को दे दिया और छोटे महाराज जी को आदेश दिया– ''भैया गोविन्ददास को यहाँ से सब चीज दे दो। हर सप्ताह पाँच सेर आटा ले जाया करें।'' गोविन्ददास थाली लोटा आटा–सामान लेकर चलते बने। धन्य ऐसे अनूठे गुरु और धन्य हैं ऐसे अनूठे शिष्य !

धुन्धकारी

पूज्य महाराज जी की सेवा में रहकर नाम पाने वाले सिड़ियों में धुन्धकारी ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। धुन्धकारी पहाड़ी ग्राम का एक ब्राह्मण था। दिमाग ठीक न होने के कारण वहाँ वह वैसे ही घूमा करता था। फटा कुरता, फटी धोती, न खाने की सुध, न पीने की। कुछ पढ़ा लिखा भी था जब तब रामायण की शुद्ध अशुद्ध चौपाइयाँ कह दिया करता था। चौपाइयों में आधी चौपाई रामायण की होतीं, आधी अपने मन से जोड़ दिया करते और इस तरह घण्टों जोड़–जोड़कर चौपाइयाँ कहा करते थे। सब लोग उसे पागल कहते थे किन्तु करह पर आकर वह धुन्धकारी भगवान् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। बड़े महाराज जी का दरबार ही विचित्र था। यहाँ अनगढ़ वेशभूषा वाले, बेठिकाने की बातें करने वाले लोग, अधिक सम्मान्य बन जाते थे। इसका कारण पूज्य महाराज जी की कृपा थी। वे जब किसी पागल को, लूले लंगड़े

को तथा अन्धे अपाहिज को आश्रम में आया हुआ देखते तो उसे भगवान् की पदवी से विभूषित कर देते थे। सचमुच यह एक उच्च सिद्धांत का व्यवहारीकरण था। भगवान् सेव्य हैं यह सिद्धांत सभी आस्तिकों को मान्य है और सम्पूर्ण विश्व भगवान् का ही रूप है, यह भी श्रुतिप्रतिपादित मान्यता है, पर विश्व में जो समर्थ हैं, योग्य हैं, शिक्षित हैं, उन्हें सेवा की अपेक्षा नहीं हैं। सेवा की अपेक्षा ऐसे लोगों को है जो किसी भी कारण से न समाज सेवा कर सकते हैं न स्वयं का भरण–पोषण। विश्वरूप भगवान् का यही अंश वस्तुतः सेव्य है, और चूँकि सेव्य है अतः वह भगवान् है। पूज्य बड़े महाराज जी की ऐसी दृष्टि थी। इस भाव के कारण ऐसे लोगों की ओर सबका ध्यान जाता। उन्हें भोजनादि की व्यवस्था के लिए दुःखी नहीं होना पड़ता, लोग उनका आदर करते और अन्त में पूज्य महाराज जी की उन पर ऐसी कृपा दृष्टि होती थी कि उनके द्वारा बड़ी सफल भविष्य वाणियाँ होने लगती थीं। धुन्धकारी भी इसके अपवाद नहीं थे। उनके रंग–ढंग देखकर बड़े महाराज जी ने कहा– 'अरे भैया धुन्धकारी भगवान आ गये !' महाराज जी का कहना था कि सभी साधु, सभी भगत उन्हें ''धुन्धकारी'' भगवान् कहने लगे।

धुन्धकारी जंगल में धूमने निकल जाता और शाम को भोजन के समय आता। कभी–कभी दो–दो, तीन–तीन दिन तक जंगल में ही घूमा करता था। खाने–पाने का कोई ध्यान न था। करह के आसपास दिन में भी सिंह मिल सकते हैं। ऐसा जंगल है। पर धुन्धकारी को शेरों का कुछ भी भय नहीं था यहां तक सिंह दिखाई दे जाता तो उसके पीछे दौड़नें लगता था, उनके पास जा बैठता। धीरे–धीरे धुंधकारी की ख्याति बढ़ने लगी। लोग धुन्धकारी के दर्शनों के लिए उत्सुक रहते थे। कई बार भोजन में अच्छे पदार्थ बनते थे। धुन्धकारी शाम को जंगल से लौटते थे और तब खीर, पूड़ी या ओर कोई पकवान चुक

जाता था तो धुन्धकारी को जैसे सब मालूम हो जाता वह जंगल से आते ही कहने लगता ''तुम सब स्वयं खीर खा जाते हो और मेरे लिए रोटियाँ रखते हो ? तुम साधु क्यों हो गये ? इससे तो घर ही अच्छा था, तुमको नरक मिलेगा। तब पता लगेगा'' आदि–आदि बातें कह डालते थे, तब से आश्रम में कुछ भी बनता उसमें धुन्धकारी के लिए अवश्य रखा जाता और किसी को मिले या न मिले। एक बार की बात है। जाड़े के दिन थे बड़े महाराज जी रजाई ओढ़े पटिया पर बैठे थे। इतने में ही चक्कर लगाते हुए कहीं से धुन्धकारी भगवान् आ पहुँचे। महाराज जी की ओर देखकर बोले– 'तुम साधु होकर रजाई ओढ़ते हो ? जो रजाई ओढ़ता है उसे भगवान् नहीं मिलते।' इतना सुनते ही बड़े महाराज जी ने रजाई उतार दी। भक्तों ने बड़ा प्रयत्न किया, पर उन्होंने नहीं ओढ़ा। छोटे महाराज जी के आग्रह करने पर कहा– अरे भैया, धुन्धकारी भगवान् ने कहा है कि रजाई ओढ़ने वाले को भगवान नहीं मिलते, ''तो भैया, रजाई के पीछे हम भगवान को कैसे छोड़ दें ?'' एक बार–धुन्धकारी ने कह दिया कि रोटी खाने से भगवान नहीं मिलेंगे तो पूज्य महाराज जी ने दो वर्ष तक रोटियाँ नहीं खाई। इसी तरह धुन्धकारी भगवान् की विचित्र बातें होती रहती थीं। एक बार पूज्य महाराज जी के मन में प्रभु की ऐसी प्रेरणा हुई कि गंगा सागर के पास तालाब की 'पारि' बँधनी चाहिए। उन्होंने छोटे महाराज जी से कहा। छोटे महाराज जी तो उनकी थोड़ी–सी इच्छा का पालन भी ईश्वरीय आदेश की तरह करते थे। उन्होंने तत्काल सब सामान एकत्र कराया। मजदूर आ गये दूसरे दिन प्रातः से कार्यारम्भ होने वाला था। कि सायंकाल कहीं से घूमते–फिरते धुन्धकारी भगवान आ पहुँचे। मनीराम दास पुजारी ने पूछा– ''भगवान् ! तालाब की 'पारि' बन रही हैं। आपकी आज्ञा है न ?'' वे बोले– 'हमारी आज्ञा नहीं है।' मनीरामदास ने पुनः पूछा–आखिर आप कौन है जो कि आज्ञा दे रहे हैं ? धुन्धकारी

बोले–'हम धनुषधारी राम हैं, हम कहते हैं कि ताल की पार बनाना हो तो हमारे भरोसे न बनाना।' फिर क्या था, कार्यक्रम स्थगित हो गया। बड़े महाराज जी बोले–भैया ! अब पार नहीं बनेगी। छोटे महाराज जी बाले– आपने कहा था कि ऐसी प्रेरणा हुई है ? महाराज जी बोले– ''भैया, पहले की आज्ञा देवताओं की थी पर यह आज्ञा तो रामजी दे रहे हैं।'' पश्चात् श्री छोटे महाराज जी ने पारि के लिए एकत्र की गयी सामग्री से कीर्तन भवन का निर्माण कराया। हमारी समझ से कीर्तन–भवन भी एक पुल ही था– 'नाथ नाम तब सेतु, नर चढ़ि भव सागर तरहिं, उस नाम कीर्तन का वह साधन था। आगे चलकर उसी कीर्तन–भवन में चार महीने का अखण्ड कीर्तन हुआ था।'

सवाई भगवान्

सवाई नन्दे के पुरा के रहने वाले एक किरार के बालक हैं। पहले ये बड़े विनयी एवं साधु सेवी थे। रामनाम कीर्तन के बड़े अनुरागी थे। छोटे महाराज जी जब कभी जाते तो दिन–दिन भर दौड़–दौड़ कर सेवा करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् इनकी साधना अन्तर्मुखी हो गयी। फलतः इनका बाह्म आचरण लोक विलक्षण हो गया। उस समय ये बड़े महाराज जी की शरण में आए। विचित्र वेशभूषा, विचित्र वचनावली और विचित्र रहनी थी इनकी। नग्न रूप, नंगे सिर, नंगे पैर रहते। कभी नंगी तलवार बगल में लटकती, कभी पीठ पर लालटेन टंगी रहती, कभी गले में भैंस का सींग बँधा रहता तो कभी इससे भी विलक्षण वेशभूषा होती थी। कभी–कभी इनका अपने ही प्रति इतना रोमांचकारी व्यवहार होता था कि उनकी ओर देखना कठिन था। हमने अपने जीवन में ऐसे किसी भी साधक को न देखा न उसके बारे में सुना जिसने अपने शरीर को इतना प्रचण्ड दण्ड दिया हो, वह भी हँस–हँसके ! सवाई जलता हुआ कण्डा अपने सिर पर रख लेता, सारे

बाल जल जाते, चाँद की चमड़ी जलने लगती और वे हँसते–रहते ! तब कोई दूसरा उस कंडे को उनके सिर से हटाता था। कभी जलते हुए अंगारे को उठाकर मुँह में धर के कर–कर खाने लगते थे। कहीं बरौं का ततैयों का छत्ता लगा रहता, उसे जान–बूझकर छेड़ते और उनसे अपने शरीर को खूब कटा लेते थे, इस प्रकार वे आपने आप को कठोर दण्ड देते रहते जिसे देखकर दूसरे लोगों के ह्रदय कांप जाते थे।

सवाई रोटी के झूँठे, सड़े–गले–टुकड़े खूब इकट्ठे रखते थे। एक बार वह एक रोटी का टुकड़ा लिए हुए बड़े महाराज जी के पास आये और कहने लगे– 'लो खा लो।' उन दिनों महाराज जी ने रोटी खाना छोड़ दिया था क्योंकि धुन्धकारी भगवान ने कह दिया कि रोटी खाने से भगवान् नहीं मिलते। तब से रोटी छोड़े महाराज को लगभग दो वर्ष हो गये थे। सवाई भगवान् पहुँचे और रोटी का टुकड़ा महाराज जी की तरफ कर दिया तथा कहा– खा भी लो। अरे हिला खालो, यों कह के जबरदस्ती महाराज जी के मूँह में रोटी को टुकड़ा लगा दिया, और तब से महाराज जी ने प्रभु की प्रेरणा समझकर रोटी खाना शुरू कर दिया।

भक्त लोग जब बड़े महाराज जी से अपना कुछ कष्ट सुनाने पहुँचते तो महाराज जी उन्हें सवाई के पास भेज देते। सवाई के मन पर आ जाती तो कुछ कह भी देते थे। एक बार की बात है, पूरा आषाढ़ बीत गया। सावन का महीना लग गया, किन्तु पानी नहीं बरसा। धनेले गाँव के लोग मिलकर पूज्य बड़े महाराज जी के समीप आये ओर उन्होंने वर्षा के लिए प्रार्थना की तो महाराज जी ने कहा– ''हम तो कुछ जानते नहीं, सवाई भगवान् से विनय करो, वही कुछ कर सकते हैं।'' सवाई समीप ही बैठे थे। सब लोगों ने उनके ''चरण पकड़ लिए तो बोले– पानी हमारे पास बहुत भरा है, जितना कहो उतना

बरसा दें, पर तुम लोग कुछ दान पुण्य तो करते नहीं हो, पानी कैसे बरसे ?'' सब लोगों ने हाथ जोड़कर के कहा– 'जो आपकी आज्ञा हो वह दान पुण्य करें, सवाई बोले–यहाँ प्रतिवर्ष सिद्धबाबा के नाम से भण्डारा किया करो, एक दिन की अखण्ड नाम ध्वनि किया करो तो अभी पानी ही पानी बरसा दें। सबने स्वीकार कर लिया और वे आज्ञा लेकर चल पड़े। वे थोड़ी–ही दूर गये होंगे कि गगन में घन–घटाएँ उमड़–घुमड़ आईं और खूब पानी पड़ा। तब से वह भण्डारा और एक दिन की नाम ध्वनि अब तक होती आ रही है।

इस प्रकार दूसरों के मुख से विशेषतः सिड़ी लोगों के द्वारा–बड़े महाराज जी बड़ी–बड़ी अद्‌भुत बातें कह दिया करते थे। वे स्वयं अपने मुख से कभी कोई भविष्यवाणी नहीं करते थे। लोक प्रतिष्ठा की गन्ध का लेश भी उनमें नहीं था। पलटू साहब ने अपनी बानी में ठीक ही कहा है–

''आगम कहें न संत भड़ेरिया कहत है,
सन्त न औषध देहिं वैद यह करत हैं।
झार फूँक ताबीज ओझा को काम है,
अरे हाँ रे पलटू संत रहित पर पंच राम का नाम है।''

कोढ़ी की सेवा

दासवत् सन्नतार्याँघि पितृवद्दीनवत्सला।
भ्रातृवत् सदृशे स्निग्धो गुरुष्वीश्वरभावनः।

–भाग–७/४

''अर्थ– भक्त प्रहलाद बड़ों के चरणों में दासवत् प्रणत होते दीनों के प्रति पितृतुल्य दयावान् रहते, समान के प्रति भ्रातृतुल्य स्नेहपूर्ण थे और गुरुजनों को ईश्वर सदृश मानते थे।''

निष्प्रपंच सन्तों की दृष्टि अत्यन्त सुलझी हुई होती है। व्याधि पीड़ित, विरूप शरीर के प्रति न उनके मन में घृणा होती है। न मनोरम काया के प्रति उनके मन में मोह का बन्धन। वे तो शरीर की अँगूठी में जड़े हुए रामरत्न के कारण ही कांच की काया को कंचन की मानते हैं। उनकी दृष्टि में मूल्य तो रामरत्न का है। वे उसी रत्न के पारखी होते हैं। बल्कि दूषित शरीर वाले प्राणी उनके लिए अधिक आदरणीय होते हैं। क्योंकि प्रभु के ऐसे रूप समाज में घृणास्पद एवं अस्वास्थ्यप्रद होने के कारण उपेक्षित तथा तिरस्कृत होते हैं। अतः वे अनाघ्रात पुष्प की भाँति सेवा के अछूते पात्र होते हैं। ऐसों की सेवा मानों उन्हीं के बांट आती है। पूज्य श्री महाराज जी के आश्रम में एक ऐसा ही प्राणी आया। उसके अंग–अंग में गलित कुष्ठ था। हाथ पैरों की अँगुलियाँ गलकर ठूँठी हो चुकी थीं। शरीर से बदबू आती थी। सिवा मक्खियों के उसके पास कोई नहीं जाता था। करह पर और भी कई साधु थे। किसी ने भी उसे अपने पास नहीं बैठने दिया। बैठने भी कोई कैसे देता ? रूप को विकृत, शरीर को पीड़ित करने वाला एवं समाज में प्रचण्ड पापों का प्रतिफल मान्य होने के कारण सर्वतः लांछित करने वाला कोढ़ जैसा भयानक रोग दूसरा कौन हो सकता है ? सिद्धान्ततः सब में भगवान् मानने वालों में भी आचरण में उस सिद्धांत को उतारने वाले कोई विरले ही होते हैं। मानों इस बात की कसौटी बनकर ही महाराज जी के पास वह कोढ़ी जा पहुँचा। महाराज जी ने उसके मक्खियों से भिनकते शरीर पर हाथ फेरते हुए कहा– ''आओ भगवान् ! तुम हमारे पास आओ'' वह बड़ी प्रसन्नता से समीप जा बैठा ऐसे कृपापूर्ण कर–कमल का स्पर्श उसे कहाँ प्राप्त होता ? महाराज जी ने एक गलित कोढ़ी को अपने पास बिठा रखा है, यह बात भक्तों एवं साधुओं को बहुत ही बुरी लगी। पर वहाँ कहने का साहस किसे होता है। सबने मिलकर छोटे महाराज जी से कहा कि ''बड़े महाराज जी कोढ़ी को

पास बिठाते हैं यह रोग संक्रामक होता है। उसे आप महाराज जी के पास से दूर हटा दें।'' छोटे महाराज जी ने जाकर बड़े महाराज जी से प्रार्थना की, तो बड़ी सरलता से बोले– ''भैया भगवान् जाने किस वेश में आते हैं। पता नहीं कोढ़ी के रूप में ही वे आये हों ! कोई साधु उन्हें अपने पास बैठने देता नहीं तो हम कैसे उन्हें अपने पास से हटा दें ?'' छोटे महाराज जी ने उस कोढ़ी के लिए तत्काल एक कुटिया बनवा दी। वह मतोला की कुटिया के नाम से प्रसिद्ध हुई क्योंकि उस कुष्ठी का नाम मतोला था। मतोला बड़े महाराज जी के स्नान किये हुए जल में लेटता, नहाता और उसी को पीता था। थोड़े ही दिनों में उसका कोढ़ चूना बन्द हो गया। धीरे–धीरे शरीर का सारा कोढ़ चला गया। वह साधु बनकर भजन करने लगा। समय पाकर जब उसका शरीर शांत हुआ तो उसकी अस्थियाँ गंगा पहुँचाई और उसके लिए भण्डारा किया गया। पूज्य बड़े महाराज जी का एक नियम सा हो गया था कि किसी का भी शरीर छूटता, उसकी अस्थियाँ गंगाजी में अवश्य पहुँचाते,– उसके लिए भण्डारा करते और मृत्यु के अवसर पर एक गाय का दान करते थे। यह सम्मान केवल मनुष्यों को ही नहीं कुत्ते बिल्ली तक को प्रदान करते थे। ठीक जन्माष्टमी के दिन शरीर छोड़ने वाली, आश्रम की गंगा गाय का भी वैसा ही सम्मान किया था। उसके नाम पर समाधि बनी। गौ–मूर्ति स्थापित की गयी।

एक साधु तीर्थ यात्रा से लौटा। मार्ग में बीमार पड़ गया। नूराबाद आकर उसका शरीर नहीं रहा। तीन–चार दिन पश्चात् बड़े महाराज जी को इस बात का पता लगा। उसके लिए भण्डारा कराया। उसकी अस्थियाँ गंगाजी में भिजवा दीं। पर मृत्यु के समय उसके हाथ से गौ–दान नहीं हो सका था। अतः पूज्य बड़े महाराज जी के मन में बड़ा विचार उठा कि उसके लिए गौ–दान नहीं हुआ। छोटे महाराज जी से बोले–एँरे भैया, क्या उसके लिए अब गौ दान नहीं हो सकता ? छोटे

महाराज जी ने कहा– ''महाराज जी, गौ–दान तो मृत्यु के पहले उसी के हाथ से कराया जाता है। बड़े महाराज जी ने कहा– एँरे भैया, ऐसा कहते हैं कि १३ दिन तक जीव यहीं रहता है, इसलिए गौ–दान तो लग सकता है।'' छोटे महाराज जी ने का– 'हाँ महाराज जी ठीक है, जैसी आपकी आज्ञा। इस समय ही गौ–दान कर दिया जायेगा।' उसके लिए महाराज जी समीप जा बैठे। तीन दिन से उसके प्राण नहीं निकल रहे थे। महाराज जी ने प्रभु से प्रार्थना कि आज हमने जो कुछ राम नाम लिया, रामायण सुनी है, गीता सुनी है वह सब इन्हीं विट्ठल भगवान् को समर्पित करते हैं। इसका सुखपूर्वक शरीर छूट जाय, इतना कहना था कि कुत्ता चरणों में सिर रखकर देह–मुक्त हो गया। महाराज जी ने उसका भण्डारा कराया। यह थी करुणा ! एक कुत्ता की पीड़ा को भी नहीं सह सकते थे।

मातृ भक्ति

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव

तैत्तिरीय. ११ अनुवा

''माता को देवतुल्य मानो, पिता को देवतुल्य मानो, आचार्य को देवतुल्य मानो।'' यह उपदेश आचार्य ने स्नातक शिष्य को दिया है। इसमें सर्वप्रथम स्थान माँ का है। मनुस्मृति में कहा है–

आचार्यो ब्रह्मणे मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।

''आचार्य ब्रह्मा की मूर्ति हैं, पिता प्रजापति की मूर्ति हैं। भ्राता अपनी ही मूर्ति हैं किन्तु माता तो समस्त वसुन्धरा की मूर्ति हैं।''

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।

'सन्तान की उत्पत्ति से माता–पिता (विशेषतः माता) जो क्लेश सहते हैं, उसका बदला सैकड़ों वर्षों की सेवा द्वारा भी नहीं चुकाया जा सकता।' इस सम्बन्ध में पिता से माता का गौरव अधिक है। पूज्य बड़े महाराज जी के जीवन पर तो माता की अधिक छाप पड़ी, क्योंकि इनके पिता बिलकुल बचपन की अबोध दशा में ही छोड़ गये थे। पिता का सुख इन्हें देखने को नही मिला। माता ने ही पाला पोसा अतः इन्हें माँ का असीम एवं निश्छल स्नेह, उनका करुणापूर्ण हृदय ही देखने को मिला। इसलिये ये फूलों में ही पले, काँटों से ये अपरिचित रहे। यही कारण है कि पूज्य महाराज जी का रोम–रोम करुणापूर्ण था। उनका रहन–सहन, बोलना, बात करना, मुस्कुराना, चलना, फिरना सब कुछ स्नेह के साँचे में ढला था। मातृ–हृदय जैसी सम्पत्ति के सच्चे उत्तराधिकारी थे। पर माता का हृदय तो सारे विश्व के प्रति स्नेहाकुल था। एक सच्चे सपूत की यह सच्ची मातृ सेवा है।

माता विजयकुँवरि का इन पर बड़ा दुलार था। एक क्षण के लिए इनका अलग होना उन्हें सह्य नहीं था। महाराज जी जब सब कुछ छोड़कर 'टेकरी' पर चले गये तो वहां भी अपने प्रिय पुत्र के लिए भोजन लेकर पहुँचती थीं। पुत्र चाहे जितना बड़ा हो जाय, वह चाहे दो–चार बच्चों का बाप भी बन जाय फिर भी माता के लिये वह दुधमुँहा ही रहता है। उसकी चिन्ता तो उसे सदा लगी ही रहती है। यह भी अपने रतना की सदा चिन्ता रखती थी। यद्यपि उस समय पूज्य बड़े महाराज जी रतना न होकर बाबा महाराज हो गये थे। उनके लिये भिक्षा की कमी नहीं थी। पर इससे क्या ? माँ जब तक अपने हाथ से बना के न खिलावेगी तो कैसे सन्तोष होगा ? महाराज जी के पास जैसे ही माँ पहुँचती, वे आसन से उठ पड़ते थे। माँ का यह आदर उस समय भी किया जब चारों ओर उनकी कीर्ति बिखरने लगी थी और करह वाले बाबा के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। माँ का शरीरान्त हो

गया। उनकी मृत्यु के दो दिन पश्चात् बड़े महाराज जी के पास सूचना पहुँची। महाराज जी सजल हो गये। उन्होंने कहा– 'हम ऐसे पुत्र निकले कि माँ के दाह संस्कार में भी सम्मिलित न हुये परन्तु आज हम प्रभु की साक्षी देकर कह रहे हैं कि आज तक हमने जो कुछ भजन किया, प्रभु का स्मरण किया है, वह सब हम अपनी माँ को सौंपते हैं'। मेरे पास केवल राम नाम की कमाई है। प्रभु से प्रार्थना कि वह सब मेरी दयामयी माँ को प्राप्त हो, इस प्रकार अपने जीवन की सम्पूर्ण साधना अपनी माता के चरणों में अर्पित कर दी। धन्य है वह माता और धन्य है ऐसा पुत्र !

दयालुता

नीतं यदि नवनीतं नीतं-नीतं किमेतेन
आतपतापितभूमो माधव ! माधाव, माधाव।

अर्थ– ''हे माधव ! यदि तुमने नवनीत चुरा लिया तो चुरा लिया। इससे कोई हानि नहीं, पर धूप से तपी धरती पर माधव ! तुम मत दौड़ो, मत दौड़ो''।

तुलसीदास जी ने लिखा है कि जब श्री राघव वन में निवास करने लगे तो वन मंगलमय ही नहीं हुआ, मंगलदायक भी हो गया।

जब ते आइ रहे रघुनायक
तब ते भा बन मंगलदायक।

सन्त तो प्रभु के रूप ही होते हैं। पूज्य बड़े महाराज जी ने करह की खोह में निवास किया तो भयानक हिंस्र जन्तुओं का आवास भी वह स्थान रामनाम की दिव्य ध्वनि से गूंज उठा। वहाँ टूटा मंदिर पड़ा था। श्री महाराज जी के पहुँचने के पहले ही वहाँ की मूर्तियाँ धनेले के मंदिर पर पहुँच गयी थीं। अतः उस मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ। उसमें मूर्ति

पधाराई गयी। उत्सव किया गया। भण्डारा हुआ मंदिर की सेवा–पूजा में कुतवार ग्राम के पं. श्री ब्रजकिशोर जी को रखा गया। महाराज जी की सन्निधि में रहने का तथा श्री ठाकुर जी की सेवा का उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे बड़े पुजारी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए। पूज्य बड़े महाराज जी के कृपापात्र रहे।

यह सब होने पर भी वहाँ भीड़–भाड़ विशेष नहीं थी। थोड़े से इने–गिने साधक रहते थे। गाँव वाले लोग भादों के महीने में जन्माष्टमी के अवसर पर वहां आते और प्रातः चले जाते थे। ऐसा भी होता था कि किसी साल वर्षा ऋतु में ठीक से जल वृष्टि नहीं होती तो लोग मिलकर बड़े महाराज जी की सेवा में पहुँचते थे। शेष महीनों में शांती छाई रहती थी। साधना का वातावरण रहता था। एक बार जन्माष्टमी का उत्सव हुआ। भगवान् को सुन्दर वस्त्र एवं आभूषण पहनाये गये। मनोहर झांकी सजी। भक्तों ने रात भर जागकर भक्ति भावना का परिचय दिया। प्रसाद लेकर भक्त लोग प्रातः अपने–अपने घर चले गये। दूसरे दिन आधी रात के पश्चात् जब चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। पुजारी मंदिर की छत पर सुषुप्ति का आनन्द ले रहा था। भादों की अंधेरी रात थी। ऐसे उपयुक्त समय में चोर ने करह पर प्रवेश किया। दबे पैरों आकर मंदिर के सम्मुख आ खड़ा हुआ। समीप के पत्थर के खम्भे पर शीशे के झरोखे से केवल दीपक झांक रहा था। उसी के मन्द प्रकाश मे उसने इधर उधर दृष्टि दौड़ाई। पटिया पर महाराज जी विश्राम करते थे। उस पर मटमैले रंग की मच्छरदानी किसी ने लगा दी थी, क्योंकि वर्षा में करह पर बड़ी–बड़ी सूँड वाले बेहद मच्छर हो जाते है। पूज्य बड़े महाराज जी उस समय उसी मच्छरदानी के अन्दर बैठे भजन कर रहे थे। जो राम के सच्चे पुजारी हैं उनके नयनों में नींद कहां ? और ठीक भी है– यह जग जामिनि जागहिं जोगी। पर चोर को यह कुछ भी मालूम न हुआ। वह तो उन्हें

सोया हुआ जानकर मंदिर के मुख्य द्वार पर गया और उसने ताला तोड़ दिया। महाराज जी झिलमिले परदे के अन्दर से यह सब देख रहे थे, पर उन्हें कोई नहीं देख रहा था। तत्व की बात भी यही है। सन्त सब को देखते हैं, समझते हैं पर उन्हें देखने समझने वाला कौन हो सकता है ? चोर मंदिर के अन्दर गया। भगवान् के किरीट–मुकुट, गहने उतारे और तो और चांदी के धनुष–बाण भगवान् के हाथों से छीन लिये। कुछ चांदी की मूर्तियाँ थीं।, उन्हें भी उठा लिया। भोग लगाने के लिये प्रसाद से भरा कटोरदान रखा था उसे भी ले लिया। उसके पश्चात् भगवान् के सारे बर्तन उठा लिये। प्रभु के अंगों पर से सम्पूर्ण रेशमी वस्त्र उतार लिये गये और यह सब भगवान् देखते रहे। मानों महाराज जी को वह भी यह बता रहे थे कि जब हमारे भक्त होकर तुम इतने त्यागी हो, निष्पृह हो, तो हम तुमसे पीछे क्यों रहने लगे ? हमें किस वस्तु की कमी है कि तनिक सी चीज के लिए एक भिखमंगे का हाथ रोकें ? चोर ने भूषण वस्त्र बर्तन सबको समेटा। फिर भण्डारे में घुसा वहां से भगोना, बाल्टी लोटा आदि जो कुछ हाथ लगा सब उठा लाया और मंदिर के सामने लगा गठरी बांधने। महाराज जी अन्दर ही अन्दर देख के मुस्कुरा रहे थे। चोर ने गठरी भारी बाँधी। इतनी भारी कि उसने कई बार प्रयत्न किया किन्तु गठरी न उठी, तो पूज्य महाराज जी मच्छरदानी के अन्दर से बड़े धीमे और प्यार भरे स्वर में बोले–एँरे भगत ! आधी चीजें ले जा आधी। आधी फिर ले जाना। देर मत कर, अभी साधु जग पड़ेंगे तो बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे।

यह आवाज सुनकर पहले तो चोर घबड़ाया पर उसने जब अच्छी तरह से यह विश्वास कर लिया कि कहने वाले बड़े महाराज जी हैं तो वह निर्भय हो गया। उसने वही किया जैसे कि वह बड़ा आज्ञाकारी ही था। सामान सिर पर लादा और चल पड़ा परन्तु सामान इतना

अधिक था कि फिर भी न चला तो आश्रम से कुछ दूरी पर थोड़ी–सी वस्तुएं डाल गया।

प्रातः काल पुजारी उठा। जैसे ही मंदिर के सामने आया तो देखा कि मंदिर का ताला टूटा पड़ा है, किवाड़ खुले पड़े हैं। बात समझते देर न लगी। अन्दर गया, जो आशंका थी वही हो चुका था। बड़े महाराज जी के पास सूचना गयी। समस्त आश्रम में बात फैल गयी। धीरे–धीरे आसपास के गाँवों में भी पता लगा। गाँव वालों ने इस घटना से सन्तों का, भगवान् का विशेषतः स्वयं अपना महान् अपमान समझा। उन्होंने चोर का पता लगाया। चोर समीप के एक गाँव का था। उसके सम्बन्ध में करह पर पहले अकेले में पंचायत जुटी उसमें निर्णय किया कि उसे जाति–पाति से बहिष्कृत कर दिया जाय। वह चोर भी पंचायत में उपस्थित था। उसने जब यह निर्णय सुना तो चुपके उस सभा से खिसक आया और जहाँ बड़े महाराज जी बैठे भजन कर रहे थे वहाँ पहुँचा। दौड़कर चरणों में गिर पड़ा। बोला– 'महाराज जी अब मैं ऐसा यहीं क्या, कहीं नहीं करूँगा, मुझे क्षमा कर दीजिये, सब लोग मुझे जाति–पाँत से डाल दे रहे हैं। मेरे लड़कियाँ हैं, उनकी शादी कैसे कर सकूँगा' आदि–आदि बातें कहके गिड़–गिड़ाने लगा। महाराज जी बोले–एँरे भगत ! तू चिन्ता मत कर, तू जा, पंचायत में जा बैठ। वह पंचायत में जा बैठा। पंच लोगों ने जो फैसला किया उसे महाराज जी को सुनाने गये। महाराज जी चुपचाप उनका फैसला सुनते रहे। उसके पश्चात् सबसे बोले– 'भगतो ! हमारा कहना तो यह है कि यह चोरी जन्माष्टमी के बाद हुई है। भैया ! किसी राजा महाराज के यहाँ लड़का उत्पन्न होता है तो उस दिन कैदी छोड़े जाते हैं, आप सबने इसे पकड़ लिया तो यह भी कैदी हो गया। नन्द बाबा के यहाँ कृष्ण जी जन्मे हैं तो उसके उपलक्ष में इस कैदी को छोड़ देना ही ठीक है। लोगों ने कहा– ''महाराज ज़ी, इसने केवल सामान ही चुराया होता तो इसे

छोड़ा भी जा सकता था पर इसने तो मंदिर से ठाकुर जी के गहने चुराये हैं ठाकुर जी के बर्तन चुराये हैं।'' महाराज जी ने कहा– 'एँरे भगत ! यह बात को ऐसी है कि नन्द बाबा के घर कृष्ण जी ने जन्म लिया तो नन्द जी ने तमाम धन बाँटा था। समझ लो, नन्द बाबा और यशोदा मैया के द्वारा लुटाया हुआ धन लूट ले गया है, इसमें दण्ड किस बात का ? लोगों ने कहा– इस तरह तो यह फिर चोरी करेगा? महाराज जी बोले– 'अब नहीं करेगा, करे तो तुम सब जो चाहो सो दण्ड देना, हम कुछ न कहेंगे।' महाराज जी के इस कथन के पश्चात् पंचों ने अपना निर्णय वापस ले लिया। चोर ने चरण पकड़ लिए फिर उसने कभी चोरी नहीं की, न्याय हो तो ऐसा, दण्ड हो तो ऐसा कि पुनः उसकी गर्हित कार्य में प्रवृत्ति न हो और वह समाज में सम्मानित जीवन व्यतीत कर सके।

मंगन लहें न जिनके नाहीं

अन्नं च नो बहु भवेदतिर्थींश्च लभेमहि,
याचितारश्च नः सन्तु माच याचिष्म कंचन।

–याज्ञवल्क्य

अर्थ– 'हे प्रभो ! हमारे बहुत अन्न हो, हमारे घर बहुत अतिथि आवें, बहुत याचक आवें, किन्तु हम किसी से याचना न करें।'

पूज्य श्री महाराज जी तो उदारता की मूर्ति थे। वे स्वयं किसी से कुछ भी याचना नहीं करते थे। साधु होने के पूर्व ही उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि हम अपने जीवन में कभी और किसी से कुछ भी नहीं माँगेंगे। उन्होंने इस प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह किया। करह पर बड़ी–बड़ी यज्ञें हुईं, बड़े–बड़े भण्डारे हुए लेकिन वह किसी से कुछ भी मांगने न गये न किसी से कहा। इससे भी बढ़कर उनका एक और कठिन व्रत था।

उनकी आज्ञा थी कि ''कोई भी साधु अथवा गृहस्थ ऐसा एक भी पैसा न लगावे जो अन्याय का है।'' यद्यपि इस युग में इस व्रत का पूरा पालन तो असम्भव था फिर भी पूज्य महाराज जी यथासम्भव इसका ध्यान रखते थे। बड़े महाराज जी के समीप कई बार दस्युदल की ओर से सन्देश आया कि 'कुछ द्रव्य हमारी ओर से वहाँ के किसी कार्य में लगाया जाये।' इस पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया– 'अरे भैया, हमारे भगवान् का भोग तो दूध का लगता है, खून का नहीं। हमारे श्री रघुनाथ जी महाराज ने लंका जीती पर उसका द्रव्य वे अयोध्या जी नहीं लाये, क्योंकि लंका का धन लूट का था।' ऐसी थी उनकी त्याग वृत्ति !

एक बार की घटना है। 'करह' पर एक विकट साधुओं की जमात आई। वैष्णव–स्थानों पर जाना, डाँट–डपट लगाना आदि कार्य, उनके वृत्तिगत कार्य थे। छोटे महाराज जी उस समय करह पर थे नहीं। जमात के साधुओं ने बड़े महाराज जी के पास जाकर प्रसाद बनाने के लिए सामान मांगा।

पूज्य श्री बड़े महाराज जी ने अपनी सहज प्रसन्नता से कहा– ''संत भगवान्, यह सब आपका ही है, जो–जो आवश्यक हो ले लीजिये'' बड़े दरबार की इस बड़ी छूट से वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामान माँगना शुरू किया। कोठारी भण्डारी परेशान ! मनों आटा–मनों दाल, कनस्टरों घी मांगने लगे। साधुओं ने आकर बड़े महाराज जी से शिकायत की कि वे इतना सामान ले रहे हैं जितनी मूर्तियाँ नहीं हैं। महाराज जी ने कहा–'अरे भैया ! साधु हैं– मांगते हैं जो हो सो दे दो।' साधु देते गये वह लेते गये, खूब प्रसाद बनाया, पाया। तमाम आटा सामान था, काफी घी था, सब ऊँटों पर लाद लिया। भोजन बनाने के लिए जो बर्तन मांगे थे उन्हें ऊँट की पीठ पर लादकर चलते बने। पता नहीं, उनका ऊँट किस करवट बैठा। साधुओं ने महाराज जी को सूचित किया तो मुस्करा के बोले ''एँरे भैया ! ठीक है, कहां र्बतन

मांगते, कहां आटा मांगते डोलते। अब जहां भूख लगेगी, बना लेंगे। ले जाने दो, कोई बात नहीं।'' वास्तव में उनके अन्तर्गत अपरिग्रह की असीम भावना थी। उनके मन में धन का आकर्षण कहाँ से आता ? भला ऊसर में खेती कहां से पैदा हो सकती है ? धन, शरीर निर्वाह का एक उपाय हो सकता है पर वह अनिवार्य नहीं है, विशेषतः साधु के लिए धन से उपभोग्य वस्तु एकत्र की जा सकती पर उनका आनन्द इन्द्रियां उठाती हैं। सन्त ज्ञानदेव ने बहुत ही सटीक कहा है–''इतना सब करके भी क्या कमा लोगे ? कुछ विषय सम्पादन कर लोगे, तो मधुमक्खिओं का मधु लोग लूट ले जाते हैं, उसी प्रकार ये इन्द्रियां उस सारे विषय को लूट लेंगी और तू नग्न हो जायेगा।'' यदि कोई इस पर यह कहना चाहे कि इन्द्रियां लूट भी लें तो क्या हानि ? वह भी तो हमारी ही हैं इसके उत्तर में वे कहते हैं– 'इन्द्रियों के चक्कर में पड़ने का अर्थ है दीनता का स्वीकार ! उनका ही कभी समाधान नहीं हुआ तब वे तेरा समाधान क्या करेंगी ? सपने का धन, मृय जल का नीर, बादल की छाया और इन्द्रियों का सहारा, सबकी कीमत समान है।' भला तब सन्त शिरोमणि पूज्य महाराज जी धन का दुलार कैसे करते? उनके चरणों में दर्शनार्थी आते, रुपया पैसा चढाते, वे उससे सर्वथा निर्लिप्त रहते थे। चाहे कोई उठावे या पड़ा रहे। एक बार एक धनी पुरुष ने पूज्य महाराज जी के चरणों में सौ रुपये का नोट चढ़ाया। चूंकि वह अकेले में आकर चढ़ा गया। अतः साधुओं को न मालूम हुआ। केवल एक साधु की निगाह पड़ी। वह नया ही नया साधु बना था, पर बड़े महाराज जी के स्वभाव से वह भली–भांति परिचित हो गया था। अतः वह बढ़कर महाराज जी के पास गया और सौ रुपये के नोट को उठा के वहां से चलता बना। महाराज जी मुस्कुराते रहे। उन्हें जैसे ये खेल बड़े अच्छे लगते थे। बाद में उसी भक्त के द्वारा साधुओं को ज्ञात हुआ कि सौ रुपये का नोट चढ़ाया गया उसे अमुक रूप रंग

का साधु उठा के ले गया। स्थान के साधु बड़े अप्रसन्न हुए। उस साधु को पकड़ने के लिए तीन–चार साधु जाने लगे तो बड़े महाराज जी ने बड़े मजे से कहा–'अरे एँरे भैया उसने चोरी थोड़े ही की है ? उसने तो हमारे सामने से रुपये उठाये हैं। सामने से उठाने वाला कोई चोर थोड़े ही होता है ! और ले ही गया तो हानि क्या है ? साधु ही तो ले गया। साधु के पास रुपया होगा तो वह तीर्थ करेगा, भण्डारा करेगा, कुटी बनवायेगा।'

इतना सुनने के बाद कौन क्या कहता ? बात आई गई हुई। इसी तरह की और भी कई घटनाएँ हुईं। मंदिर से भी कुछ चीजें उठ जाती थीं। यदि कोई गृहस्थ ऐसी गलती कर देता और साधु उसकी शिकायत करते तो महाराज जी कह देते थे– ''अरे कोई चीज चुरा ली तो चुरा लेने दो, गृहस्थ है, उसका मन बस में नहीं है, हाँ जो साधु है उसको ऐसा नहीं करना चाहिए।''

विश्वरूप रघुवंश मणि

''दूध के कण–कण में मलाई संचित है। इतना ही कि दूध तपाने से वह अलग दिख पड़ती है। उसी तरह विश्व में ब्रह्म भरा हुआ है। तपश्चर्या से, साधना से, उसे प्रकट करना होता है। उस हद तक ही तुम हम साधकों का काम है वह जिन्होंने किया, उन्हें मानो मलाई अलग छांट कर दी गयी।''–

–सन्त ज्ञानदेव

सचमुच सन्तों का हृदय तो ब्रह्म की रसायन शाला है। वहाँ प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म का अन्वेषण चलता रहता है। ''ना जाने किस वेश में नारायण मिल जायें'' की भावना काम करती रहती है। पूज्य श्री बड़े महाराज जी की भावना तो और भी ऊँची थी। वहाँ अन्वेषण नहीं था वहाँ तो मान्यता थी, विश्वास था। एक बार कुछ 'सपेरे' (सांप पकड़ने

वाले) करह पर आये। गाँवों में उन्हें लोग 'नाथ' कह के पुकारते हैं। कन्धे पर बेंहगी होती है। जिसके एक ओर साँपों का पिटारा, दूसरी ओर अनाज का पिटारा रहता है। हाथ में 'महुअर' होती है। वे लोग करह पर पहुँचे और महाराज जी को प्रणाम करके बैठ गये। बड़े महाराज जी ने पूछा–भगत कहाँ से पधारे हैं ? उन्होंने कहा– ''महाराज! हम लोग 'नाथ' हैं, घूमते फिरते रहते हैं।''

उनका इस रूप में परिचय देना था कि बड़े महाराज जी आसन पर से उठ पड़े और दौड़कर उन सपेरों को गले से लगाने लगे तथा कहने लगे– ''अरे भैया, तुम तो 'नाथ' हो। नाथ तो सिवाय रघुनाथ के और कौन हो सकता है ?'' नयन सजल हो गये, कंठ गद्‌गद्‌ हो गया। जाड़े के दिन थे अतः उन्हें कम्बल दिला दिये। अपने सारे वस्त्र उतार कर उन्हें दे दिये। और वे नाथ तो रघुनाथ की पदवीं का अर्थ भी न समझे होंगे। केवल हर्ष–विस्मय भरे नेत्रों से देखते रह गये। हाँ, उनके अन्तर्यामी सब कुछ समझकर प्रसन्न हो रहे होंगे। वैसे उस घोर जाड़े के दिनों में सांप पकड़ने वालों को कौन कम्बल देता। उनका हृदय ही ऐसा था कि वे दुःखी प्राणी का दुःख देख नहीं सकते थे, फिर वह चाहे जो भी हो। एक बार की घटना है। जंगल में शेर ने एक साँड़ को घायल कर दिया, पर उसकी कुछ आयु शेष थी, वह बच गया, धीरे–धीरे चलकर करह के पास आ गिरा। किसी साधु ने बड़े महाराज जी को सूचित किया। बड़े महाराज जी सब साधुओं को लेकर वहाँ पहुँचे। साँड़ अपनी अंतिम साँसें गिन रहा था। बड़े महाराज ने छोटे महाराज जी से कहा– 'भैया, बैल तो धर्म का रूप होता है। इसका अंतिम समय है तुम इसे राम–मंत्र दे दो। छोटे महाराज जी ने साँड़ को राम–मंत्र देकर अच्युत गोत्री वैष्णव बना दिया, सभी उपस्थित साधुओं ने कीर्तन की ध्वनि की और भगवन्नाम सुनते–सुनते साँड़ ने सन्तों के मध्य में अपनी पशुयोनि का परित्याग कर दिया। उसका विविधत् संस्कार किया गया।